अंक संख्या
01
वर्ष 01

माह एवं वर्ष
जुलाई
2026

मार्गदर्शनम्
पत्रिका
ज्ञान • संस्कृकि • मूल्य • समाज

मार्गदर्शनम्

पत्रिका

शिक्षा से संस्कार • संस्कार से समाज • समाज से राष्ट्र

इस अंक में

शिक्षा विमर्श
नई शिक्षा नीति और भारतीय दृष्टि

संस्कृति सरिता
भारतीय संस्कृति की कालजयी धारा

प्रेरक प्रसंग
महापुरुषों के जीवन से सीखने योग्य बातें

समाज और सरोकार
समाज निर्माण में हमारी भूमिका

ज्ञान विज्ञान
विज्ञान, तकनीक और नवाचार की दुनिया

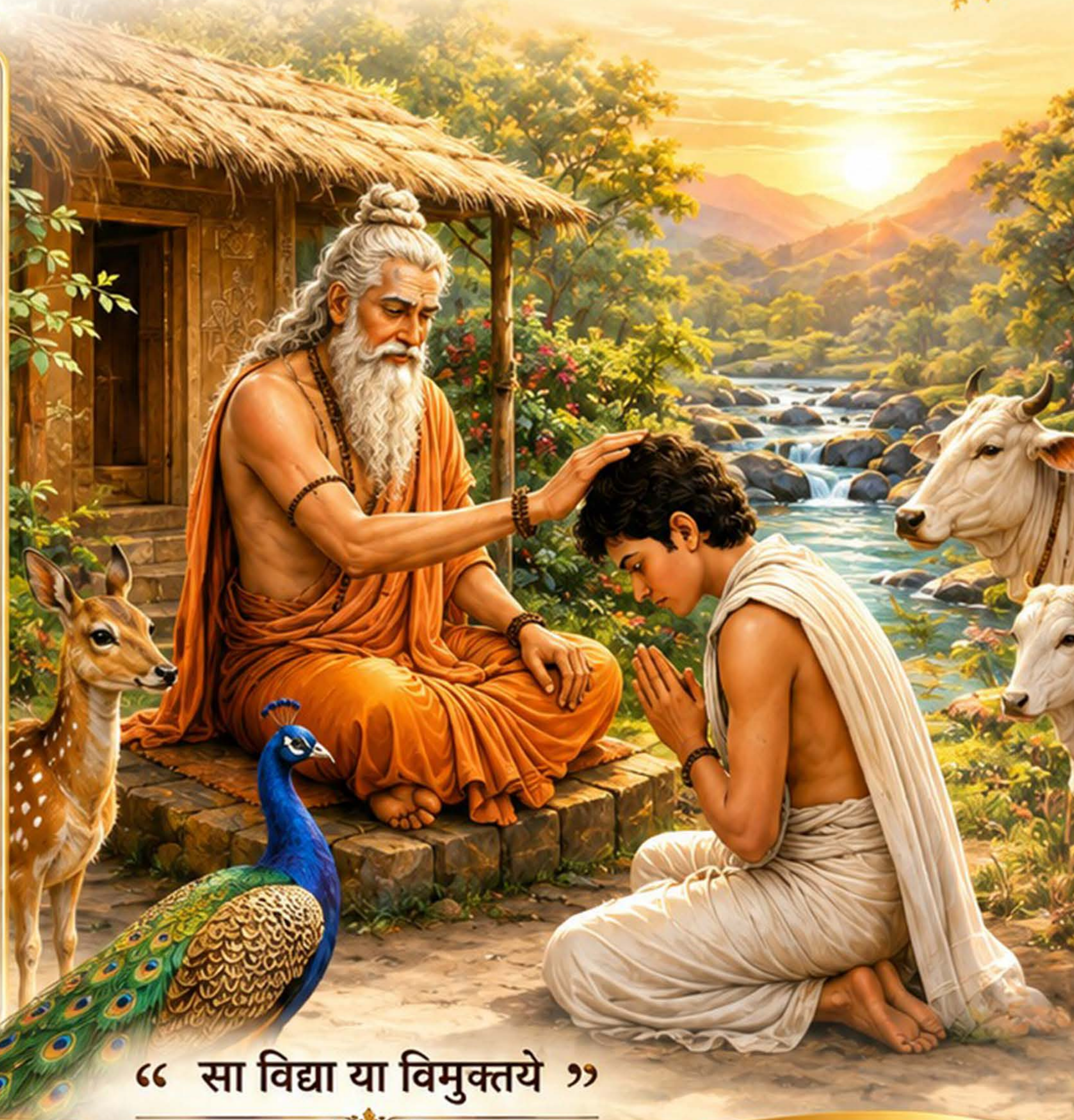

“ सा विद्या या विमुक्तये ”

समग्र दृष्टि | भारतीय चिंतन | सार्थक समाज

प्रधान संपादक
डॉ. वेदप्रकाश मिश्र

संपादक
पिंकी उपाध्याय

सह-संपादक
विष्णु प्रसाद द्विवेदी
लक्ष्मीकान्त अवस्थी

परामर्श समिति
प्रो. प्रमोद कुमार दुबे
प्रो. हरिशंकर पांडेय
प्रो. जतींद्र मोहन मिश्र
डॉ. स्वामी निर्मलदास

प्रकाशक एवं मुद्रक
पिंकी उपाध्याय
रामनगर, वाराणसी, उत्तर प्रदेश
ई-मेल : mdpatrika4@gmail.com

संपादन एवं प्रकाशन पूर्णतः अवैतनिक

महत्त्वपूर्ण सूचना

- मार्गदर्शनम् पत्रिका में प्रकाशित लेखों, शोधपत्रों, टिप्पणियों एवं अन्य रचनाओं में व्यक्त विचार पूर्णतः सम्बन्धित लेखक/रचनाकार के निजी हैं। उनसे सम्पादक, सम्पादकीय मण्डल अथवा प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
- मार्गदर्शनम् पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के विवाद, वाद अथवा न्यायिक प्रकरण के निस्तारण हेतु वाराणसी का न्यायालय ही क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) रखेगा।
- मार्गदर्शनम् पत्रिका के सम्पादक, परामर्श-परीक्षक मण्डल तथा सम्पादकीय मण्डल के सभी सदस्य पूर्णतः अवैतनिक एवं मानद रूप से अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं।
- मार्गदर्शनम् पत्रिका में प्रकाशित प्रत्येक रचना की मौलिकता, तथ्यपरकता, उद्धरणों तथा कॉपीराइट सम्बन्धी समस्त उत्तरदायित्व सम्बन्धित लेखक का होगा। इन विषयों के लिए प्रकाशक, सम्पादक अथवा सम्पादकीय मण्डल उत्तरदायी नहीं होगा।

इस अंक में

	संपादकीय		3
1.	श्रीराम का प्रथम वचन	*–प्रो. प्रमोद कुमार दुबे*	4
2.	आध्यात्मिक परम्परा का प्राणतत्त्व भक्ति	*–प्रो. हरिशंकर पाण्डेय*	6
3.	सनातन चेतना का दिव्य आलोक गुरु-तत्त्व	*–डॉ. ज्ञानप्रकाश मिश्र*	8
4.	यजुर्वेद में गुरु-तत्त्व	*–डॉ. चेतन वेदिया*	10
5.	ज्ञान का अखण्ड आलोक गुरुपूर्णिमा	*–डॉ. वेदप्रकाशमिश्र*	12
6.	ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी	*–डॉ. आभा झा*	14
7.	संस्कृति और विश्वमानवता की आधारभाषा	*–डॉ. सुरेश कुमार शर्मा*	16
8.	पहला सुख निरोगी काया	*–डॉ. नीरज त्रिपाठी*	18
9.	चिकित्सा : व्यवसाय नहीं, मानवता की सर्वोच्च सेवा	*–संदीप तिवारी 'कृपके'*	20
10.	भारतीय जीवन-दर्शन के आधार संस्कार	*–आशुतोष मणि त्रिपाठी*	22
11.	मानवता के शाश्वत ज्ञानपुञ्ज हैं वेद	*–स्वामी डॉ. निर्मल दास*	24
12.	सांस्कृतिक धरोहर है इतिहास	*–सुलभा मिश्रा*	26
13.	शिक्षा का स्वरूप	*–डॉ. गुरिन्दर कौर*	28
14.	बच्चों की ऑनलाइन सुरक्षा...	*–श्रीमती रश्मि एस. चारी*	30
15.	वेद का चक्षु है ज्योतिष शास्त्र	*–आचार्य राजबहोर मिश्र (शास्त्री जी)*	33
16.	रत्नों में छिपा है रोगमुक्ति का रहस्य	*–डॉ. सरित् शर्मा*	35
17.	मांगलिक योग	*–आचार्या दीप्ति चतुर्वेदी*	37
18.	तरन्ति येन तत् तीर्थम्	*–डॉ. आलोक कुमार पाण्डेय*	39
19.	राजा शान्तनु और माँ गंगा	*–श्रीमती सरोज गुलाटी*	42
20.	संस्कृत कविताएँ	*–शशिपाल शर्मा 'बालमित्र'*	44
21.	हिन्दी कविताएँ	*–पिंकी उपाध्याय*	45
22.	मानव-जीवन के दिव्य स्तम्भ उपनिषद्	*–डॉ. अजय कुमार भारद्वाज*	46
23.	पर्यावरण और सांस्कृतिक सातत्य का प्रतिमान लोकपर्व हरेला	*–पिंकी उपाध्याय*	48
24.	जनान्दोलन अभिव्यक्ति और युवाओं के संस्कार?	—अमिता तिवारी	50
25.	सदस्यता आवेदन प्रपत्र तथा सुझाव एवं अभिमत		52

सम्पादकीयम्

प्रिय सुधि पाठकवृन्द !

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

अत्यन्त हर्ष, गौरव तथा आत्मसन्तोष का विषय है कि 'मार्गदर्शनम्' मासिक पत्रिका का प्रथम अंक आपके करकमलों में समर्पित हो रहा है। यह केवल एक पत्रिका नहीं, अपितु ज्ञान, संस्कृति, विज्ञान, शिक्षा, अध्यात्म, व्यक्तित्व-विकास, अनुसन्धान तथा राष्ट्रनिर्माण के बहुआयामी चिन्तन का समन्वित बौद्धिक उपक्रम है। इसका मूल ध्येय भारतीय ज्ञानपरम्परा की चिरन्तन चेतना को समकालीन जीवन की आवश्यकताओं से जोड़ते हुए समाज के प्रत्येक वर्ग को यथार्थ, संतुलित एवं जीवनोपयोगी मार्गदर्शन प्रदान करना है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि मानव-जीवन की प्रत्येक साधना में सम्यक् मार्गदर्शन ही सफलता का आधार, संतुलन का साधन तथा जीवन की सार्थकता का सेतु होता है।

वर्तमान युग अभूतपूर्व परिवर्तन का युग है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), डिजिटल क्रान्ति, वैश्विक प्रतिस्पर्धा, पर्यावरणीय संकट, नैतिक मूल्यों का क्षरण तथा मानसिक तनाव इत्यादि सभी परिस्थितियाँ मानवता के सम्मुख नवीन चुनौतियाँ उपस्थित कर रही हैं। सूचना का अनन्त विस्तार होने पर भी विवेक, नैतिक मूल्य तथा सम्यक् निर्णय-शक्ति का अभाव अनुभव किया जा रहा है। वास्तव में केवल सूचना पर्याप्त नहीं है; अपितु विवेकयुक्त ज्ञान, सन्तुलित दृष्टि, नैतिक चेतना तथा जीवनोपयोगी मार्गदर्शन की आज परम आवश्यकता है। मार्गदर्शनम् इसी आवश्यकता की पूर्ति का एक विनीत, निष्ठापूर्ण एवं सतत प्रयास होगा।

भारतीय ज्ञानपरम्परा आदिकाल से ही समग्र जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठापिका रही है। जिसके मूल में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय। असतो मा सद्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय'॥ का व्यापक संप्रत्यय रहा है। यहाँ शिक्षा का उद्देश्य केवल जीविकोपार्जन नहीं था, अपितु व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण मानवता का समन्वित अभ्युदय माना गया। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, गणित तथा विज्ञान आदि का मूल प्रयोजन मानव-जीवन को प्रकाशमान एवं उद्देश्यपूर्ण बनाना है। ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'।

महर्षि पाणिनि की व्याकरण-प्रतिभा, आचार्य चाणक्य की राष्ट्रनीति, महर्षि पतञ्जलि का योगदर्शन, आर्यभट्ट एवं भास्कराचार्य का वैज्ञानिक चिन्तन, सुश्रुत एवं चरक की चिकित्सा-दृष्टि तथा आधुनिक भारत के वैज्ञानिकों एवं चिन्तकों की नवोन्मेषी परम्परा हमें यह शिक्षा देती है कि ज्ञान तभी सार्थक है, जब वह हमारे जीवन, समाज और राष्ट्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करे। इसी आदर्श को केन्द्र में रखकर मार्गदर्शनम् पत्रिका में शास्त्र एवं विज्ञान, संस्कृति एवं तकनीक, परम्परा एवं नवाचार, अध्यात्म एवं व्यवहार, शिक्षा एवं अनुसंधान, स्वास्थ्य एवं जीवनशैली, साहित्य एवं समाज, प्रशासनिक सेवाएँ, प्रतियोगी परीक्षाएँ, कौशल-विकास, कैरियर-परामर्श तथा समसामयिक राष्ट्रीय-विमर्श आदि विषयों का समन्वित एवं प्रामाणिक प्रस्तुतीकरण किया जाएगा। हमारा प्रयास रहेगा कि प्रत्येक अंक पाठकों को केवल जानकारी ही नहीं, अपितु चिन्तन, प्रेरणा, मूल्यबोध तथा जीवन-दृष्टि भी प्रदान करे।

यह पत्रिका विद्यार्थियों, शोधार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों, युवाओं, प्रशासनिक सेवाओं के अभ्यर्थियों, नीति-निर्माताओं तथा समाज के प्रत्येक जागरूक नागरिक के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी। हमारा उद्देश्य लेखों का प्रकाशन मात्र नहीं है, अपितु ऐसे सशक्त वैचारिक समूह का निर्माण करना है जहाँ ज्ञान-विनिमय, स्वस्थ संवाद, अनुसन्धान, मौलिक चिन्तन एवं रचनात्मक सहभागिता निरन्तर विकसित होती रहे।

यह प्रथम अंक गुरुपूर्णिमा विशेषांक के रूप में समर्पित है। भारतीय संस्कृति में गुरु केवल ज्ञानदाता नहीं, अपितु अज्ञानरूपी अन्धकार का निवारण कर सत्य, विवेक, आत्मबल एवं जीवन-दर्शन का आलोक प्रदान करने वाले दिव्य पथप्रदर्शक हैं।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

इसी गुरुतत्त्व से प्रेरणा ग्रहण करते हुए मार्गदर्शनम् पत्रिका प्रत्येक पाठक के जीवन-पथ का विश्वसनीय सहयात्री, प्रेरक एवं पथप्रदर्शक बनने का संकल्प धारण करता है।

हम आपके बहुमूल्य सुझावों, मौलिक रचनाओं, समीक्षाओं, अनुसन्धानपरक लेखों तथा सर्जनात्मक सहभागिता का सहृदय से स्वागत करते हैं। आपका विश्वास, सहयोग एवं स्नेह ही इस पत्रिका की वास्तविक शक्ति एवं अमूल्य निधि है।

आइए, हम सब मिलकर ऐसे ज्ञान-यज्ञ का शुभारम्भ करें, जो व्यक्ति को संस्कारित करे, समाज को सुदृष्टि प्रदान करे, राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना को सुदृढ़ बनाए तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से सम्पूर्ण मानवता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

हमारे पूर्वाचार्यों ऋषि-महर्षियों नें 'सा विद्या या विमुक्तये' 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः'। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥ इत्यादि अमूल्य निधियों के रूप में जो जीवनदृष्टि प्रदान की है उसको धारण करते हुए ज्ञान को जीवन से, परम्परा को प्रगति से, संस्कृति को विज्ञान से, विचार को कर्म से तथा व्यक्तित्व को राष्ट्रनिर्माण से जोड़ते हुए एक उज्ज्वल, संस्कारित एवं आत्मनिर्भर भारत के निर्माण में अपनी सक्रिय सहभागिता सुनिश्चित करें।

इसी दृढ़ विश्वास, मंगलकामना एवं शुभेच्छा के साथ...

श्रीराम का प्रथम वचन

प्रोफेसर प्रमोद कुमार दुबे
शिक्षाविद्, लेखक एवं साहित्यकार

मनुष्य का व्यक्तित्व उसके मन, वचन और कर्म के सामंजस्य से अभिव्यक्त होता है। मन की वृत्तियाँ वाणी के माध्यम से श्रव्य तथा कर्म के माध्यम से प्रत्यक्ष हो जाती हैं। सामान्य व्यक्ति के मन, वचन और कर्म में अनेक बार भिन्नता दिखाई देती है, किन्तु महात्मा का जीवन इस दृष्टि से अद्वितीय होता है कि उसके विचार, वाणी और आचरण में पूर्ण एकरूपता रहती है। इसी कारण भारतीय परम्परा में महापुरुषों के वचनों को उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रामाणिक परिचायक माना गया है।

भगवान् श्रीराम का चरित्र इसी आदर्श का मूर्त स्वरूप है। आदिकवि वाल्मीकि ने उनके व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए कहा है'रामो द्विर्नाभिभाषते'अर्थात् श्रीराम दो प्रकार की बातें नहीं करते; वे जो कहते हैं वही सोचते हैं और वही आचरण में उतारते हैं। सत्यनिष्ठा, वचनपालन और धर्मनिष्ठ आचरण ही उनके महात्मा व्यक्तित्व की आधारशिला हैं।

श्रीराम के चरित्र पर असंख्य ग्रन्थों और आख्यानों में चर्चा हुई है। प्रस्तुत लेखमाला में हमवाल्मीकीय रामायणके आधार पर श्रीराम के वचनों का अनुशीलन करेंगे। प्रत्येक प्रसंग में यह समझने का प्रयास होगा कि उनके वचनों में उनके अन्त:करण की पवित्रता और कर्म की दृढ़ता किस प्रकार प्रतिबिम्बित होती है तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षइन पुरुषार्थ चतुष्टयों की सिद्धि उनके व्यक्तित्व में किस प्रकार समन्वित होती है।

वाल्मीकीय रामायणकेबालकाण्डके तेईसवें सर्ग में श्रीराम का प्रथम संवाद प्राप्त होता है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उनका प्रथम वचन किसी व्यक्तिगत इच्छा, अधिकार अथवा सुख-सुविधा से सम्बन्धित नहीं, अपितु एकपवित्र आश्रम के प्रति जिज्ञासासे सम्बद्ध है—

> कस्यायमाश्रम: पुण्य: कोऽन्वस्मिन् वसते पुमान्।
> भगवन् श्रोतुमिच्छाव: परं कौतूहलं हि नौ॥

(वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड १.२३.८)

अर्थात् 'भगवन्! यह पुण्यमय आश्रम किसका है? इसमें कौन निवास करता है? इस विषय को जानने की हम दोनों भाइयों की अत्यन्त उत्सुकता है।' यह प्रश्न केवल स्थान-परिचय प्राप्त करने के लिए नहीं है, अपितु पवित्रता के प्रति श्रीराम की स्वाभाविक श्रद्धा और ज्ञान-पिपासा का परिचायक है। किसी तीर्थ या आश्रम के बाह्य वैभव से अधिक उसके आध्यात्मिक इतिहास को जानने की इच्छा ही श्रीराम के अन्तर्मन की सात्त्विक वृत्ति को उद्घाटित करती है।श्रीराम की जिज्ञासा सुनकर महर्षि विश्वामित्र प्रसन्न हो उठते हैं। वाल्मीकि लिखते हैं'तयोस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गव:'।अर्थात् मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र दोनों भाइयों की जिज्ञासा सुनकर प्रसन्नतापूर्वक मुस्कराए और बोले'वीर! यह भगवान् महादेव का पवित्र आश्रम है। प्राचीन काल में धर्मपरायण मुनिगण स्थाणु महादेव के शिष्य थे और यह स्थान उनकी तपस्या से पावन हुआ है।'

इसके उपरान्त विश्वामित्र कामदेव-दहन का प्रसिद्ध आख्यान सुनाते हैं।वे बताते हैं कि जिसे विद्वान्कामयाकन्दर्पकहते हैं, वह पूर्वकाल में देहधारी देवता के रूप में विचरण करता था। उसी समय भगवान् शिव इस आश्रम में कठोर तपस्या कर रहे थे। देवताओं के प्रयोजन से कामदेव ने उनके तप में विघ्न डालने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप भगवान् शिव के दिव्य तेज से वह तत्काल भस्म हो गया औरअनङ्ग (देह-रहित) कहलाया। जिस स्थान पर उसके अंग नष्ट हुए, वही प्रदेश आगे चलकरअंगदेशके नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रथम दृष्टि में यह प्रसंग केवल कामदेव-दहन की कथा प्रतीत होता है, किन्तु इसके भीतर भारतीय धार्मिक चिन्तन का

अत्यन्त गम्भीर संकेत निहित है। यह कथा जहाँ एक ओर शैव परम्परा के तप, वैराग्य और आत्मसंयम की प्रतिष्ठा करती है, वहीं दूसरी ओर शैव और वैष्णव परम्पराओं के अन्त:सम्बन्ध का भी सूक्ष्म प्रमाण प्रस्तुत करती है।इस प्रसंग का स्मरणरामचरितमानसमें भी मिलता है। सती के देहत्याग के पश्चात् भगवान् शिव वैराग्य धारण कर निरन्तर श्रीराम का नाम-स्मरण करते हैं—

जब तें सती जाइ तनु त्यागा। तब तें सिव मन भयउ बिरागा॥
जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं राम गुन ग्रामा॥

बाद में स्वयं श्रीराम भगवान् शिव से पार्वतीजी के साथ विवाह करने का अनुरोध करते हैं—

अब बिनती मम सुनहु सिव जौं मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥

यह प्रसंग इस तथ्य को रेखांकित करता है कि राम और शिव का सम्बन्ध प्रतिस्पर्धा का नहीं, अपितु परस्पर श्रद्धा, सम्मान और आध्यात्मिक एकात्मता का है। इसी कारण श्रीराम स्वयं उद्घोषणा करते हैं' शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहुँ नहिं भावा।'

यह अत्यन्त अर्थपूर्ण तथ्य है कि श्रीराम का प्रथम वचन किसी सांसारिक विषय पर नहीं, अपितु भगवान् शिव के पुण्याश्रम के विषय में जिज्ञासा के रूप में प्रकट होता है। यह केवल एक प्रश्न नहीं, अपितु ज्ञान के प्रति अनुराग, तप के प्रति सम्मान और गुरु से सीखने की विनम्र प्रवृत्ति का उद्घोष है।वाल्मीकीय रामायण का यह प्रारम्भिक संवाद स्पष्ट करता है कि श्रीराम का चरित्र संकीर्ण सम्प्रदायिक सीमाओं से परे भारतीय आध्यात्मिक समन्वय का प्रतिनिधि है। शैव और वैष्णव परम्पराओं की अन्त:सलिला यहाँ सहज रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है। श्रीराम का प्रथम वचन इस सत्य का उद्घोष करता है कि जिज्ञासा ही ज्ञान का प्रथम चरण है, श्रद्धा ही साधना का प्रथम सोपान है और सत्य ही महापुरुष के व्यक्तित्व का शाश्वत आधार है।

mdpatrika4@gmail.com

आध्यात्मिक परम्परा का प्राणतत्त्व भक्ति

प्रोफेसर हरिशंकर पाण्डेय
साहित्य एवं प्राकृत विद्वान् आचार्य

भक्ति भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का प्राणतत्त्व है। इसकी महिमा अनन्त, अपार, अगम्य तथा अमृतस्वरूप है। भक्ति की शक्ति की कोई सीमा नहीं है। जो साधक भक्ति का आश्रय ग्रहण करता है, वह संसार-सागर को पार कर भगवान विष्णु, भगवान शिव अथवा अपने इष्टदेव के परम धाम का अधिकारी बनता है। भगवान के चरणकमलों का आश्रय प्राप्त कर उसका जीवन धन्य हो जाता है। एक बार जिस हृदय में भगवत्प्रेम का उदय हो जाता है, वह पुन: किसी अन्य आश्रय की कामना नहीं करता, क्योंकि भक्ति परम प्रेम, पूर्ण समर्पण और अमृतस्वरूप आनन्द की अनुभूति है।

महर्षि नारद ने भक्ति को ज्ञान और वैराग्य से भी श्रेष्ठ माना है 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।' (नारदभक्तिसूत्र, २५)। वे आगे कहते हैं 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।' (सूत्र २) तथा 'अमृतस्वरूपा च।' (सूत्र ३)। अर्थात् भक्ति भगवान के प्रति परम प्रेम है और अमृतस्वरूप है। जिस भाग्यशाली साधक को यह भक्ति प्राप्त होती है, वह सिद्ध, अमृतस्वरूप और पूर्णत: तृप्त हो जाता है। उसके हृदय में किसी अन्य वस्तु की कामना शेष नहीं रहती। श्रीमद्भागवत महापुराण में भगवान स्वयं कहते हैं कि जो भक्त अपना सर्वस्व मुझे अर्पित कर देता है, वह ब्रह्मपद, इन्द्रपद, सार्वभौम राज्य, योगसिद्धियाँ अथवा मोक्ष तक की इच्छा नहीं करता—

> न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
> न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भागवत ११.१४.१४)

ऐसा भक्त न तो शोक करता है और न ही द्वेष करता है, न किसी से स्पर्धा करता है। उसका चित्त भगवान में ही निमग्न रहता है। स्वर्ग, ऐश्वर्य अथवा अन्य किसी लोक का आकर्षण भी उसके लिए तुच्छ हो जाता है।

श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में गोपियों की अनन्य भक्ति का अनुपम चित्रण मिलता है। वे उद्धव से कहती हैं कि भगवान श्रीकृष्ण हमारे मन को चुरा ले गए हैं; अब वह किसी अन्य में लग ही नहीं सकता। श्रीसूरदास ने इसी भाव को व्यक्त किया है—

> ऊधो! मन न भए दस बीस।
> एक हुतो सो गयो श्याम संग, को आराधे ईस॥

वंशीगीत में गोपियाँ कहती हैं—

> चित्तं सुखेन भवता अपहृतं गृहेषु।
> यन्निर्विशत्युत करावपि गृहकृत्ये।
> पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलात्।
> याम: कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥

अर्थात् हे प्रियतम! आपने हमारा चित्त चुरा लिया है। अब हमारे हाथ गृहकार्य में प्रवृत्त नहीं होते और हमारे चरण आपके चरणकमलों से हटना नहीं चाहते। ऐसी दशा में हम घर जाकर क्या करें?

व्याकरण की दृष्टि से भी 'भक्ति' शब्द अत्यन्त अर्थगर्भित है। 'भज' धातु (सेवा, सम्मान, सहभागिता, आश्रय आदि अर्थों में) से 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा 'भक्ति' शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। अत: भक्ति का मूल अर्थ है—सेवा, प्रेम, समर्पण, सहभागिता और ईश्वर के साथ आत्मीय सम्बन्ध की स्थापना।

आदि शंकराचार्य ने विवेकचूडामणि में कहा है—

> मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
> स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥

अर्थात् मोक्ष के साधनों में भक्ति सर्वोपरि है तथा अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का अनुसंधान ही भक्ति है। महर्षि नारद के अनुसार तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता। अर्थात् समस्त आचरण भगवान को समर्पित कर देना और उनके क्षणमात्र विस्मरण से भी अत्यन्त व्याकुल हो उठना ही भक्ति है।

भक्ति

भक्ति केवल मन्दिर या पूजा तक सीमित नहीं है। श्रीमद्भागवत में वर्णित व्रज की गोपियाँ दुग्ध-दोहन, दधि-मन्थन, आँगन लीपने, बालकों को सुलाने तथा गृहकार्य करते हुए भी निरन्तर श्रीकृष्ण का गुणगान करती रहती थीं। उनके प्रत्येक कर्म में भगवान का स्मरण और प्रेम विद्यमान था। यही कर्मयोगमयी भक्ति है।

श्रीहनुमानजी ने भी भगवान श्रीराम से यही वर माँगा कि जब तक इस पृथ्वी पर रामकथा का प्रचार होता रहे, तब तक वे उसका रसास्वादन करते हुए भगवान की भक्ति में निमग्न रहें। यह भक्ति की चरम अवस्था है, जहाँ भक्त का जीवन भगवान की कथा और सेवा में ही पूर्णता प्राप्त करता है।

वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतियाँ, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, नारदभक्तिसूत्र, शाण्डिल्यभक्तिसूत्र, रामचरितमानस, सूरसागर, मीराबाई के पद, कबीर की वाणी तथा समस्त भक्तिकाव्य भक्ति की इसी परम महिमा का प्रतिपादन करते हैं। सभी आचार्यों का निष्कर्ष एक ही है भक्ति परम प्रेम है, परम आनन्द है और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति का सरलतम साधन है।

आधुनिक युग में भी भक्ति की प्रासंगिकता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्ति मनुष्य के भीतर कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, सेवा, करुणा, आत्मसंयम, राष्ट्रनिष्ठा तथा लोकमंगल की भावना का विकास करती है। माता-पिता की सेवा, गुरु-भक्ति, राष्ट्रभक्ति, पर्यावरण संरक्षण, जीवदया, नारी-सम्मान, समाजसेवा तथा निष्काम कर्म—ये सभी भक्ति के ही विविध रूप हैं। जब मनुष्य प्रत्येक कार्य को ईश्वरार्पण-बुद्धि से करता है, तब उसका कार्य ही पूजा बन जाता है और उसका जीवन उत्सव में परिवर्तित हो जाता है।

आज का युग अशान्ति, हिंसा, स्वार्थ, भ्रष्टाचार और नैतिक पतन की अनेक चुनौतियों से घिरा हुआ है। इन सबका स्थायी समाधान भक्ति में निहित है। भक्ति मनुष्य के भीतर प्रेम, समर्पण, सह-अस्तित्व और विश्वबन्धुत्व की भावना उत्पन्न करती है। यही कारण है कि कलियुग में भक्ति को सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है। इष्टदेव का स्मरण, मन्त्र-जप, पूजा, स्वधर्म का पालन, परिवार एवं समाज के प्रति उत्तरदायित्व, राष्ट्रसेवा तथा सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति करुणा, ये सब भक्ति के ही व्यावहारिक स्वरूप हैं।

अत: यह कहा जा सकता है कि भक्ति केवल आध्यात्मिक साधना नहीं, अपितु जीवन को दिव्य, भव्य, अनुशासित, आनन्दमय और लोकहितकारी बनाने वाली सार्वभौमिक शक्ति है। यही शक्ति व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण मानवता को सुख, शान्ति एवं मंगल की ओर ले जा सकती है।

mdpatrika4@gmail.com

सनातन चेतना का दिव्य आलोक गुरु-तत्त्व

डॉ. ज्ञानप्रकाश मिश्र
व्याकरणाचार्य

प्रात:काल उठि कै रघुनाथा।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

—श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड

अर्थात् भगवान् श्रीराम प्रतिदिन प्रात:काल जागकर सर्वप्रथम अपनी माता, पिता एवं गुरु के चरणों में मस्तक नवाकर उन्हें प्रणाम करते हैं। यह चौपाई भारतीय संस्कृति के आदर्श जीवन-मूल्यों की अत्यन्त सुंदर अभिव्यक्ति है। इससे स्पष्ट होता है कि दिन का शुभारम्भ ईश्वर-स्मरण, माता-पिता तथा गुरु के प्रति श्रद्धा एवं प्रणाम से करना चाहिए। यह प्रसंग हमें प्रात:काल शीघ्र जागने, बड़ों का सम्मान करने, विनयशील बनने तथा कृतज्ञतापूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करता है।

भारतीय सनातन संस्कृति में गुरु केवल ज्ञान का उपदेश देने वाला व्यक्ति नहीं, अपितु अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर सत्य, धर्म, ज्ञान और ईश्वर की ओर अग्रसर करने वाला परम पथ-प्रदर्शक माना गया है। गुरु जीवन-दर्शन की वह आधारशिला हैं, जिनके मार्गदर्शन के बिना न तो ज्ञान की सिद्धि सम्भव है और न ही चरित्र, व्यक्तित्व तथा जीवन का समुचित परिष्कार। इसीलिए भारतीय वाङ्मय में गुरु को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप स्वीकार करते हुए गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म कहा गया है। इसी गुरु-तत्त्व के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता एवं समर्पण व्यक्त करने का परम पावन पर्व आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा, गुरु पूर्णिमा के रूप में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विश्वभर में श्रद्धापूर्वक मनाया जाता है। यही पावन तिथि भारतीय ज्ञान-परम्परा के महान् संवाहक, वेदों के विभाजक एवं महाभारत के रचयिता भगवान् वेदव्यास की जयंती भी है। महर्षि व्यास ने चारों वेदों का सुव्यवस्थित विभाजन किया, अष्टादश महापुराणों की रचना की तथा महाभारत जैसे विश्वविख्यात महाकाव्य का प्रणयन कर वैदिक ज्ञान को जनसामान्य तक पहुँचाने का अमूल्य कार्य किया। उनके इस अनुपम योगदान के कारण यह दिवस 'व्यास पूर्णिमा' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वस्तुतः गुरु पूर्णिमा भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा का गौरवशाली महापर्व है, जो श्रद्धा, ज्ञान, संस्कार, अनुशासन, आत्मविकास तथा सांस्कृतिक चेतना का अमर संदेश प्रदान करता है। भारतीय ऋषि-परम्परा ने गुरु को केवल शिक्षण का माध्यम नहीं, अपितु धर्म, संस्कृति, ज्ञान और मोक्ष का द्वार माना है। यही कारण है कि भारतीय आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा का प्रत्येक मंगलकार्य गुरु-वन्दना से ही प्रारम्भ होता है। गुरु ही शिष्य के

अन्त:करण में विवेक, विनय, सदाचार और आत्मज्ञान का दीप प्रज्वलित कर उसे जीवन की वास्तविक दिशा प्रदान करते हैं। अत: भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान देवताओं से भी श्रेष्ठ एवं सर्वाधिक पूजनीय माना गया है। जैसा कि उपनिषद् में भी कहा गया है 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'। छान्दोग्योपनिषद् (6.14.2) अर्थात् जिसे योग्य आचार्य (गुरु) की प्राप्ति होती है, वही वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

तुलसीदास जी के लिए गुरु केवल शास्त्रों का व्याख्यान नहीं करते हैं, अपितु आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाले दिव्य सेतु का काम भी करते हैं। भारतीय साहित्य में गुरु की महिमा का जितना उत्कृष्ट और अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रण गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस में किया है, वह अद्वितीय है। मानस का आरम्भ ही गुरु-वन्दना से किया गया है। बालकाण्ड के आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए गोस्वामी जी गुरु के श्रीचरणों की धूलि को अमृततुल्य बताते हुए सर्वप्रथम गुरुचरणों की वन्दना करते हुए लिखते हैं बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि। महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर॥ बालकाण्ड, मंगलाचरण, अर्थात् मैं उन गुरु महाराजके चरणकमलकी वन्दना करता हूँ, जो कृपाके समुद्र और नररूप में स्वयं भगवान श्रीहरि ही हैं। जिनके वचन सूर्यकी किरणों के समान हैं, जो अज्ञानरूपी घोर अंधकार का नाश कर देते हैं।

गोस्वामी जी के शब्दों में गुरु के चरण मनुष्य के जीवन की सभी सिद्धियों के आधारभूत हैं। वे गुरुचरणों की रज (धूलि) को जीवनदायिनी औषधि के समान बताते हुए कहते हैं कि— श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥ बालकाण्ड, मंगलाचरण अर्थात् श्रीगुरु महाराजके चरण नखों की ज्योति मणियोंके समान प्रकाशमान है, जिसके स्मरण मात्र से ही हृदय में दिव्य दृष्टि का उदय हो जाता है। यहाँ पर गुरु को आत्मज्ञान का प्रकाश-स्तम्भ माना गया है, जिसके बिना सत्य का साक्षात्कार करना सम्भव नहीं है। गुरु का सान्निध्य प्राप्त होने पर मनुष्य का अन्त:करण निर्मल हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही अंधकार स्वयमेव विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार गुरु का ज्ञानोपदेश मानव के अन्त:करण में स्थित अज्ञान, मोह और भ्रम का भी समूल नाश कर देता है। गुरु शिष्य के भीतर की सुप्त दिव्यता को जागृत करके उसको लोकमंगल एवं आत्मकल्याण के पथ पर प्रेरित करते हैं। भगवान श्रीराम का जीवन स्वयं में गुरु-भक्ति का एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है।

महर्षि विश्वामित्र जब अयोध्या नगरी से भाई लक्ष्मण के सहित श्रीराम को अपने साथ लेकर वन की ओर जाते हैं, तब दोनों राजकुमार अत्यन्त विनम्रता एवं श्रद्धा के साथ गुरु की सम्पूर्ण आज्ञा का अक्षरश: पालन करते हुए नजर आते हैं। गुरु की आज्ञा को वे साक्षात् ईश्वर की आज्ञा की तरह ही मानते हैं। विश्वामित्र के संरक्षण में ही श्रीराम दिव्य अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उससे राक्षसों का संहार भी करते हैं तथा जनकपुरी में भगवान शिव का धनुष भंग भी गुरु की आज्ञा तथा उनको प्रणाम करके करते हैं - गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा।अति लाघवं उठाइ धनु लीन्हा।। श्रीराम ने मन ही मन अपने गुरु को प्रणाम किया और बड़ी ही फुर्ती के साथ शिवजी के धनुष को उठा लिया। और उसके बाद सीता-स्वयंवर की गौरवगाथा रचते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बड़े से बड़े महापुरुष भी गुरु के मार्गदर्शन एवं उनके कृपा प्रसाद के बिना पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। इसी प्रकार महर्षि वशिष्ठ जी का भी चरित्र गुरु की गरिमा का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। वे केवल राजकुल के गुरु ही नहीं, अपितु समूचे रघुवंश के धर्म, नीति और मर्यादा के संरक्षक के रूप में जाने जाते हैं। राजमहल में उनके परामर्श के द्वारा ही राज्य की व्यवस्था संचालित होती है तथा प्रत्येक महत्त्वपूर्ण निर्णय धर्मसम्मत रूप से ही किया जाता है। तुलसीदास जी श्रीरामचरितमानस में श्रीराम के जीवन में गुरु भक्ति के माध्यम से यह संदेश देना चाहते हैं कि गुरु केवल व्यक्तिगत उत्थान ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज और राष्ट्र के नैतिक नेतृत्व के भी आधार हैं।

गोस्वामी जी के सम्पूर्ण मानस में गुरु को ईश्वर की प्राप्ति का अनिवार्य साधन माना गया है। गुरु की कृपा प्रसाद के बिना जीवन में न भक्ति सिद्ध होती है,और न ही ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा जीवन का वास्तविक उद्देश्य भी पूर्ण नहीं होता है। गुरु ही शिष्य के भीतर श्रद्धा, विनय, विवेक, ज्ञान और आत्मविश्वास का संचार करते हैं। इसलिए तुलसीदास जी बार-बार गुरुचरणों में अपनी अटूट आस्था व्यक्त करते हुए कहते हैं- बंदउँ गुरु पद पदुम परागा सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।। मैं गुरु महराजके चरणकमलों की धूल को प्रणाम करता हूँ, जो उत्तम रुचि, सुगंध और मधुर प्रेम से हृदय को पवित्र कर देती है। तुलसीदास जी का यह संदेश युगों-युगों तक मानवता का मार्ग आलोकित करता रहेगा, जिस व्यक्ति के जीवन में गुरु के प्रति श्रद्धा है,उसीका जीवन सार्थक, सफल और परम कल्याणकारी बनता है। भारतीय संस्कृति में गुरु को ईश्वर से भी पहले प्रणाम करने की परम्परा रही है। गुरु के चरण-कमलों की रज से मनरूपी दर्पण को निर्मल करके ही मानव निष्कलंकित जीवन यापन करते हुए सुन्दर यश प्राप्त करके अपने आप को धन्यता का अनुभव करा सकता है। यही व्यास पूर्णिमा का वास्तविक संदेश है और यही भारतीय संस्कृति की सनातन चेतना की पहचान भी है।

mdpatrika4@gmail.com

यजुर्वेद में गुरु-तत्त्व

डॉ. चेतन वेदिया
सुधी संस्कृत अध्यापक

भारतीय वैदिक संस्कृति में 'गुरु' का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं पूजनीय है। यद्यपि 'यजुर्वेद' मुख्यतः यज्ञ, कर्म, धर्म तथा लोककल्याण का वेद है, तथापि उसमें निहित शिक्षाओं में गुरु-तत्त्व का भी गहन संकेत मिलता है। वैदिक परम्परा में गुरु केवल ज्ञान देने वाला व्यक्ति नहीं, अपितु वह शिष्य के व्यक्तित्व का निर्माता, धर्ममार्ग का निर्देशक तथा आत्मोन्नति का प्रेरक होता है। गुरु के मार्गदर्शन के बिना वेदों का यथार्थ ज्ञान और वैदिक कर्मों की शुद्ध परम्परा का पालन सम्भव नहीं माना गया है।

यजुर्वेद में बार-बार ज्ञान, तप, अनुशासन और सत्य के पालन पर बल दिया गया है। इन आदर्शों की प्राप्ति गुरु के सान्निध्य में ही होती है। गुरु शिष्य को केवल मन्त्रों का उच्चारण नहीं सिखाता, अपितु उनके अर्थ, प्रयोजन तथा जीवन में उनके व्यावहारिक उपयोग का भी बोध कराता है। इस प्रकार गुरु वैदिक ज्ञान को जीवनोपयोगी बनाता है।यजुर्वेदीय परम्परा में आचार्य वह है जो स्वयं सदाचारी हो और अपने आचरण से शिष्यों को शिक्षा दे। गुरु का जीवन ही उसका सबसे बड़ा उपदेश होता है। वह सत्य, संयम, करुणा, क्षमा, त्याग और सेवा जैसे गुणों का प्रत्यक्ष उदाहरण बनकर शिष्य को प्रेरित करता है। इसलिए वैदिक शिक्षा-पद्धति में केवल बौद्धिक शिक्षा ही नहीं, अपितु चरित्र-निर्माण को भी समान महत्त्व दिया गया है।

यजुर्वेद में यज्ञ को जीवन का आधार माना गया है। यज्ञ की विधि, मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण तथा उनके आध्यात्मिक और सामाजिक उद्देश्य का ज्ञान गुरु से ही प्राप्त होता है। गुरु शिष्य को यह शिक्षा देता है कि यज्ञ केवल अग्नि में आहुति देना नहीं, अपितु त्याग, समर्पण, परोपकार और लोकमंगल की भावना का अभ्यास है। इस प्रकार गुरु शिष्य के भीतर कर्तव्यबोध और सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास करता है।यजुर्वेद वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-विज्ञान तथा धर्ममय जीवन का प्रधान वेद है। यद्यपि इसमें 'गुरु' शब्द का प्रयोग उत्तरवर्ती ग्रन्थों की भाँति व्यापक रूप में नहीं मिलता, तथापि गुरु-तत्त्व का स्वरूप अनेक मन्त्रों में निहित है। यजुर्वेद के अनुसार वेदज्ञान, यज्ञविद्या, सदाचार तथा ब्रह्मविद्या की प्राप्ति योग्य आचार्य के मार्गदर्शन से ही सम्भव है। इस प्रकार गुरु केवल अध्यापक नहीं, अपितु ज्ञान, संस्कार और धर्म के संवाहक हैं। यजुर्वेद (अध्याय ३६, मन्त्र १८) का प्रसिद्ध शान्तिपाठ गुरु-शिष्य सम्बन्ध की आध्यात्मिक आधारभूमि प्रस्तुत करता है— 'तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।'

अर्थात् हमारा अध्ययन तेजस्वी हो तथा हम परस्पर द्वेष न करें। यद्यपि यह मन्त्र तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावल्ली) में भी प्रसिद्ध है, उसका वैदिक मूल यजुर्वेदीय परम्परा में निहित है। यह मन्त्र स्पष्ट करता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल सूचना देना नहीं, अपितु गुरु और शिष्य के मध्य सौहार्द, श्रद्धा तथा संयुक्त साधना स्थापित करना है। इसी प्रकार यजुर्वेद ४०.१ (ईशावास्योपनिषद्) में कहा गया है—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥'

इस मन्त्र में त्याग, संयम और धर्ममय जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। गुरु का दायित्व इन्हीं जीवन-मूल्यों को शिष्य के आचरण में प्रतिष्ठित करना है। अतः गुरु-तत्त्व केवल शास्त्रज्ञान तक सीमित न होकर जीवन-निर्माण का माध्यम है। यजुर्वेद (२२.२२) में प्रार्थना की गई है— 'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्....'

इस मन्त्र में ब्रह्मवर्चस्-सम्पन्न विद्वानों की कामना की गई है। ब्रह्मवर्चस् का अर्थ है—वेदज्ञान, तप, सत्य और आध्यात्मिक तेज। ऐसा तेजस्वी विद्वान् ही वास्तविक गुरु है, जो समाज को धर्म और ज्ञान की दिशा प्रदान करता है।यजुर्वेद का समस्त यज्ञ-विधान इस तथ्य का प्रमाण है कि वैदिक अनुष्ठान योग्य

आचार्य के निर्देशन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकते। अध्वर्यु, होतृ, उद्गाता और ब्रह्मा जैसे ऋत्विजों की व्यवस्था यह दर्शाती है कि ज्ञान की परम्परा गुरु से शिष्य तक अनुशासित रूप में प्रवाहित होती है। अत: वैदिक संस्कृति में गुरु ज्ञान-परम्परा के संरक्षक हैं।सायणाचार्य अपने पयजुर्वेद-भाष्य में बार-बार यह स्पष्ट करते हैं कि मन्त्रों का यथार्थ अर्थ तथा यज्ञ-विधि केवल वेदवेत्ता आचार्य से ही जानी जा सकती है। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यजुर्वेदभाष्य में आचार्य को सत्यविद्या का उपदेशक तथा समाज-निर्माता माना है। यजुर्वेद में गुरु-तत्त्व का स्वरूप तीन स्तरों पर प्रकट होता है—

(१) वेदज्ञान का प्रदाता आचार्य ।

(२) सदाचार एवं यज्ञसंस्कृति का आचार्य ।

(३) आध्यात्मिक उन्नति का पथ-प्रदर्शक आचार्य ।

यजुर्वेद के अनुसार वही गुरु श्रेष्ठ है जो स्वयं ब्रह्मवर्चस् से युक्त हो, शिष्य में सत्य, तप, त्याग और लोकमंगल की भावना का विकास करे तथा वेदज्ञान को जीवनोपयोगी बनाए। यही यजुर्वेदीय गुरु-तत्त्व का वास्तविक स्वरूप है। गुरु-तत्त्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि गुरु अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर विवेक का प्रकाश फैलाता है। वह शिष्य को धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य तथा उचित और अनुचित का विवेक प्रदान करता है। इस प्रकार गुरु केवल विद्वान् नहीं, अपितु जीवन का पथ-प्रदर्शक होता है। वैदिक दृष्टि में वही शिक्षा सार्थक है जो मनुष्य को आत्मसंयम, कर्तव्यपरायणता और लोककल्याण की भावना से युक्त करे। अत: यजुर्वेद का गुरु-तत्त्व यह सिखाता है कि गुरु ज्ञान, संस्कार, अनुशासन और आध्यात्मिक उन्नति का आधार है। गुरु के प्रति श्रद्धा, सेवा और आज्ञापालन के द्वारा ही शिष्य सच्चे ज्ञान का अधिकारी बनता है। गुरु के मार्गदर्शन में अर्जित ज्ञान व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों के कल्याण का साधन बनता है। यही यजुर्वेदीय परम्परा में गुरु-तत्त्व का वास्तविक स्वरूप और शाश्वत संदेश है।

mdpatrika4@gmail.com

ज्ञान का अखण्ड आलोक गुरुपूर्णिमा

डॉ. वेदप्रकाशमिश्र
शिक्षाविद्, लेखक एवं वक्ता

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

भारतीय संस्कृति में यदि किसी परम्परा ने सहस्राब्दियों तक समाज को जीवंत, सशक्त और संस्कारित बनाए रखा है, तो वह हैगुरु-शिष्य परम्परा। यह केवल ज्ञान के हस्तांतरण की व्यवस्था नहीं, अपितु जीवन-दर्शन, चरित्र-निर्माण, राष्ट्रचेतना और आध्यात्मिक उत्कर्ष का आधार है। भारतीय चिंतन में गुरु वह है जो केवल पढ़ाता नहीं, अपितु जीवन जीना सिखाता है; जो केवल उत्तर नहीं देता, अपितु प्रश्न करने की क्षमता विकसित करता है; जो केवल शिष्य का भविष्य नहीं बनाता, अपितु उसके व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है।

आषाढ़ पूर्णिमा का पावन दिवसमहर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासकी स्मृति में व्यासपूर्णिमा के रूप में मनाया जाता है। उन्होंने वेदों का विभाजन कर उन्हें जनसुलभ बनाया, महाभारतजैसे विश्वविख्यात महाकाव्य की रचना की, अठारह पुराणों की परम्परा का सूत्रपात किया तथाब्रह्मसूत्रजैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की। इसलिए भारतीय परम्परा उन्हें 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'कहकर स्मरण करती है। गुरुपूर्णिमा वस्तुतः ज्ञान, कृतज्ञता और आत्ममंथन का उत्सव है।संस्कृत शास्त्रों में 'गुरु'शब्द का अर्थ केवल शिक्षक नहीं है।'गु'का अर्थ है अन्धकार और'रु'का अर्थ है उसका निवारण करने वाला। अर्थात् जो अज्ञान, मोह, भय, संकीर्णता और भ्रम को दूर कर ज्ञान, विवेक, आत्मविश्वास और सत्य का प्रकाश प्रदान करे, वही गुरु है। शास्त्रों में कहा गया है—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गुरु शिष्य के भीतर छिपी हुई संभावनाओं को पहचानता है। वह व्यक्ति को केवल सफल नहीं, अपितु सार्थक बनाता है। वह जीवन में उद्देश्य, अनुशासन, संवेदना और उत्तरदायित्व का बोध कराता है। विद्यार्थी अपने ज्ञान काएक चौथाई भाग गुरु से, एक चौथाई अपनी बुद्धि, अध्ययन और मनन से, एक चौथाई सहपाठियों एवं संवाद सेतथाशेष एक चौथाई समय, अनुभव और जीवन के व्यवहार सेप्राप्त करता है।

आचार्यात् पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण च॥

यह श्लोक प्रबोधित करता है कि वास्तविक ज्ञान गुरु के उपदेश, स्वाध्याय, सहअध्ययन तथा जीवनानुभव इन चारों के समन्वय से पूर्ण होता है। इसलिए एक आदर्श विद्यार्थी को गुरु के प्रति श्रद्धावान्, अध्ययन में परिश्रमी, सहपाठियों के प्रति सहयोगी तथा अनुभवों से सीखने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। भारत का इतिहास इस सत्य का साक्षी है कि महान् राष्ट्रों का निर्माण महान् गुरुओं ने किया है।

- **महर्षि वशिष्ठ** ने श्रीराम में मर्यादा, धैर्य और धर्मनिष्ठा का संस्कार विकसित किया।
- **महर्षि विश्वामित्र** ने उन्हें शौर्य, विज्ञान और दिव्यास्त्रों का ज्ञान प्रदान किया।
- **आचार्य सान्दीपनि** ने श्रीकृष्ण को शिक्षा देकर लोककल्याण के लिए तैयार किया।
- **आचार्य चाणक्य** ने चन्द्रगुप्त मौर्य को प्रशिक्षित कर अखण्ड भारत की राजनीतिक नींव रखी।
- **महर्षि पाणिनि** ने भाषा को वैज्ञानिक अनुशासन प्रदान किया।
- **महर्षि पतञ्जलि** ने योग के माध्यम से मानव जीवन के समग्र विकास का मार्ग दिखाया।

इन महापुरुषों ने सिद्ध किया कि शिक्षा केवल ज्ञान नहीं, राष्ट्रनिर्माण का सबसे प्रभावी साधन है। आज सूचना (Information) की कोई कमी नहीं है। इंटरनेट, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और डिजिटल तकनीक ने ज्ञान को सभी के लिए सुलभ बना दिया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या सूचना ही ज्ञान है?

तो उत्तर होगा नहीं। सूचना दिशा नहीं देती, विवेक नहीं देती, मूल्य नहीं देती। आज आवश्यकता ऐसे गुरु की है जो

तकनीक के साथ मानवीयता, विज्ञान के साथ नैतिकता, सफलता के साथ सेवा और प्रगति के साथ संस्कृति का समन्वय करा सके। यही कारण है कि नई शिक्षा व्यवस्था में भीशिक्षक केवल विषय विशेषज्ञ नहीं, अपितु प्रेरक, शोधकर्ता, नवाचारक और मार्गदर्शकके रूप में अपेक्षित है।

किसी भी राष्ट्र का भविष्य उसके विद्यालयों, विश्वविद्यालयों और गुरुकुलों में निर्मित होता है। यदि गुरु संस्कारित, समर्पित और राष्ट्रनिष्ठ होगा तो समाज स्वत: सशक्त बनेगा।स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—**'शिक्षा वह है जिससे मनुष्य का चरित्र निर्माण हो, मन का बल बढ़े, बुद्धि का विकास हो और वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके।'** यह शिक्षा गुरु के बिना संभव नहीं है।

गुरुपूर्णिमा केवल पूजाअ र्चना का पर्व नहीं है। यह आत्मचिंतन का अवसर प्रदायक पर्व भी है। यह पर्व हमें तीन संकल्प लेने की प्रेरणा देता है—

» जीवन में प्राप्त प्रत्येक गुरु के प्रति कृतज्ञ रहें।

» आजीवन विद्यार्थी बने रहें।

» अपने ज्ञान का उपयोग समाज, संस्कृति और राष्ट्र के कल्याण के लिए करें।

जब प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति किसी एक जीवन को दिशा देगा, तभी भारत पुन: अग्रगण्य बनने की दिशा में अग्रसर होगा।

इस पत्रिकाका उद्देश्य केवल लेख प्रकाशित करना नहीं है, अपितु ज्ञान, संस्कार और समग्र जीवन-दृष्टि का प्रसार करना है। हमारा विश्वास है कि शिक्षा का अंतिम लक्ष्य केवल आजीविका नहीं, अपितु जीवन का निर्माण है,केवल प्रतियोगिता नहीं, अपितु चरित्र है,केवल प्रगति नहीं, अपितु मानवता है। गुरुपूर्णिमा के इस शुभ अवसर पर हम उन सभी ज्ञात-अज्ञात गुरुओं को श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं, जिन्होंने अपने ज्ञान, तप, त्याग और सेवा से समाज को आलोकित किया है।

आइए, हम सब मिलकर ऐसा भारत निर्मित करें जहाँ गुरु का सम्मान केवल परम्परा का निर्वहन न हो, अपितु जीवन का संस्कार बने,जहाँ शिक्षा केवल परीक्षा उत्तीर्ण करने का साधन न होकर आत्मविकास और राष्ट्रनिर्माण का माध्यम बने।

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

mdpatrika4@gmail.com

ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी

डॉ. आभा झा
विदुषी अध्यापिका एवं लेखिका

भारतीय ज्ञान-परम्परा में अनेक ऋषियों और मनीषियों ने अपने चिंतन से विश्व को आलोकित किया है। किन्तु इस परम्परा की तेजस्वी विदुषियों में गार्गी वाचक्नवी का स्थान अत्यंत विशिष्ट है। वे गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुई थीं, अत: वे गार्गी कहलाईं ।पिता वचक्नु की पुत्री होने के कारण उन्हें वाचक्नवी कहा गया। वे केवल वेदों की ज्ञाता ही नहीं थीं, अपितु सत्य की अनवरत खोज में संलग्न एक निर्भीक दार्शनिक भी थीं। उपनिषद् काल की स्त्रियाँ प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलती थीं और निरन्तर ज्ञानकोष को समृद्ध करती थीं इस बात का सशक्त प्रमाण गार्गी का व्यक्तित्व है। आज मैं इस लेख के माध्यम से उनके तेजोद्दीप्त व्यक्तित्व को नमन करते हुए उनका संक्षिप्त परिचय देना चाहूँगी। इस लेख का आधार बृहदारण्यक उपनिषद् है।

मिथिला के प्रसिद्ध राजा जनक की सभा में एक बार यह प्रश्न उठा कि उस समय का सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी कौन है। राजा जनक ने निर्णय लिया कि देशभर के विद्वानों को आमंत्रित कर शास्त्रार्थ कराया जाए और जो अपने ज्ञान से सभी को संतुष्ट कर दे, उसे सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता घोषित किया जाए। इस अवसर पर महर्षि याज्ञवल्क्य सहित अनेक विख्यात विद्वान् उपस्थित हुए। शास्त्रार्थ लंबे समय तक चलता रहा और याज्ञवल्क्य अपने प्रखर तर्कों और वैचारिक उत्कर्ष से सभी विद्वानों को संतुष्ट करते गए।

अंत में सभा में उपस्थित विदुषी गार्गी ने अत्यन्त विनम्रता से महर्षि याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने की अनुमति माँगी। उनके प्रश्न सामान्य नहीं थे; वे समस्त सृष्टि के आधार और ब्रह्माण्ड के रहस्य की जिज्ञासा से उत्पन्न हुए थे।

गार्गी ने पूछा-यह समस्त जगत किसमें स्थित है? जल

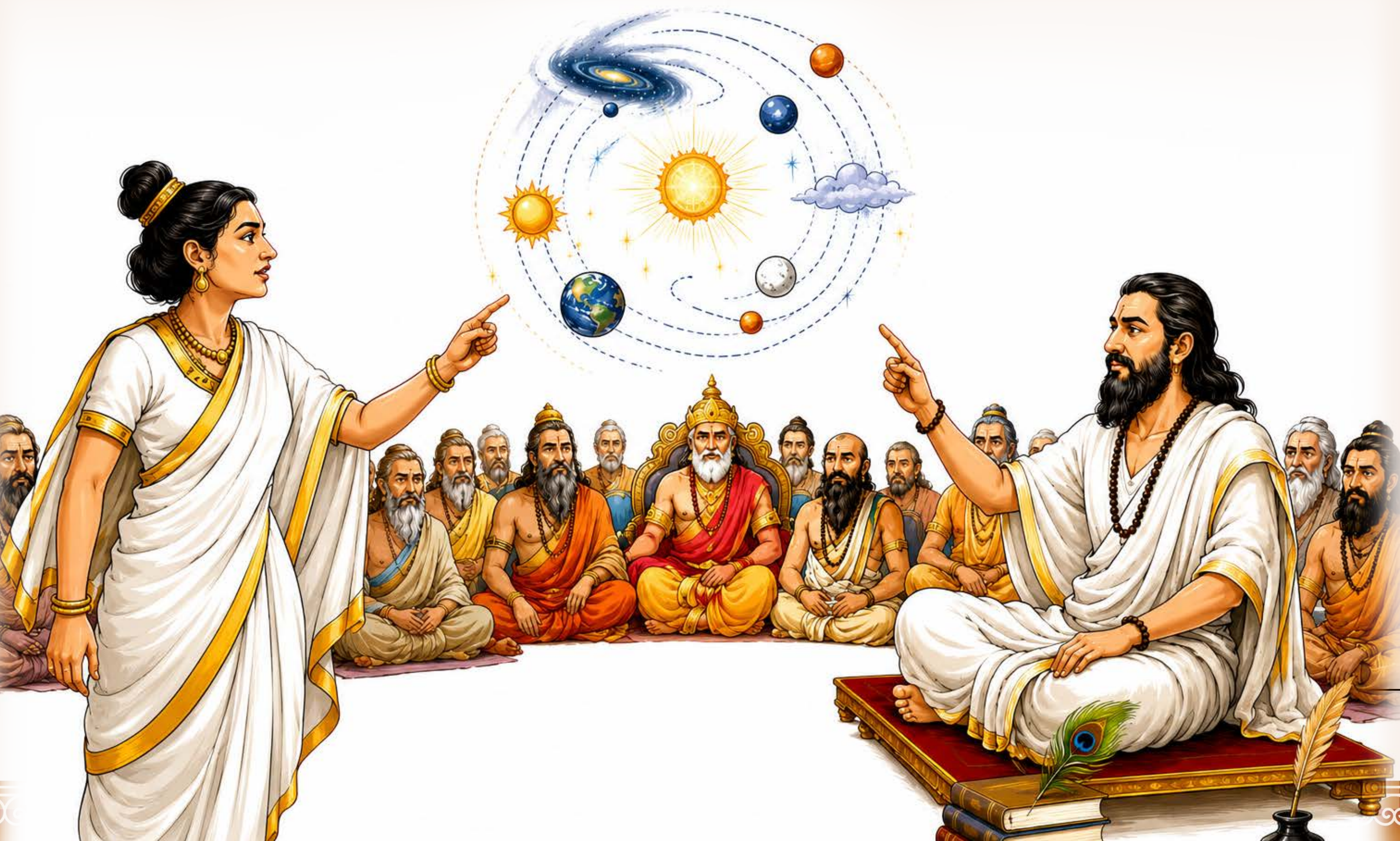

किसमें स्थित है? वायु किसमें स्थित है? आकाश किसमें स्थित है? इस प्रकार वे क्रमशः दृश्य जगत से अदृश्य सत्ता की ओर बढ़ती गईं। याज्ञवल्क्य उनके प्रश्नों का उत्तर देते रहे,पर उनके प्रश्नों की शृंखला से एक बार याज्ञवल्क्य भी धैर्य खो बैठे। फिर भी धैर्यपूर्वक उन्होंने वह प्रश्न पूछा जिसने भारतीय दर्शन को अमर बना दिया, स्वर्ग के ऊपर क्या है? पृथ्वी के नीचे क्या है? इनके बीच जो कुछ है, जो भूत है, जो भविष्य है, यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड किसके अधीन है?

आधुनिक विद्वान् इन प्रश्नों को समय (Time) और आकाश अथवा अंतरिक्ष (Space) से सम्बन्धित दार्शनिक प्रश्न मानते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'अक्षर'।' हे गार्गी! यह सम्पूर्ण जगत उस अक्षर (अविनाशी, शाश्वत ब्रह्म) के शासन और नियंत्रण में स्थित है।' अर्थात् वह अविनाशी, शाश्वत और परम सत्य, जिसके शासन में सम्पूर्ण सृष्टि संचालित होती है, वह ब्रह्म है, जो न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है और जो समस्त अस्तित्व का आधार है। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने उस अविनाशी अक्षर ब्रह्म के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

कहा जाता है कि गार्गी के प्रश्नों की गहराई से स्वयं याज्ञवल्क्य भी कुछ क्षणों के लिए चकित हो उठे। परन्तु गार्गी का उद्देश्य किसी को पराजित करना नहीं था।

कहा जाता है कि गार्गी के प्रश्नों की गहराई से स्वयं याज्ञवल्क्य भी कुछ क्षणों के लिए चकित हो उठे। परन्तु गार्गी का उद्देश्य किसी को पराजित करना नहीं था। वे स्वयं स्पष्ट करती हैं कि उनका प्रयोजन केवल सत्य का अन्वेषण है, ताकि सभा में उपस्थित सभी लोग उस ज्ञान से लाभान्वित हो सकें। यही एक सच्चे जिज्ञासु और दार्शनिक की पहचान है।इस प्रश्नोत्तर के बाद याज्ञवल्क्य के उत्तरों से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर ब्रह्मवादिनी गार्गी ने महर्षि याज्ञवल्क्य को सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी घोषित किया। उन्होंने सभा में उपस्थित सभी विद्वानों से कहा- 'हे विद्वज्जनो! आप सभी इन्हें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी मानें। आपमें से कोई भी इन्हें ब्रह्मविचार के इस वाद-विवाद में पराजित नहीं कर सकता।' इतना कहकर गार्गी मौन हो गईं।

गार्गी का व्यक्तित्व आज भी प्रासंगिक और प्रेरणास्पद है। वे निर्भीक थीं, पर अहंकारी नहीं, जिज्ञासु थीं, पर विवादप्रिय नहीं, विदुषी थीं, पर विनम्रता उनकी सबसे बड़ी शक्ति थी। उन्होंने यह सिद्ध किया कि ज्ञान का अधिकार किसी एक वर्ग या लिङ्ग तक सीमित नहीं है। सत्य की खोज करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सम्मान का अधिकारी है।

आज जब शिक्षा, समानता और स्त्री-सशक्तीकरण की चर्चा होती है, तब गार्गी का स्मरण और भी प्रासंगिक हो उठता है। उपनिषद् काल में उन्होंने जिस आत्मविश्वास के साथ राजसभा में खड़े होकर ब्रह्मविद्या पर प्रश्न किए, वह भारतीय संस्कृति में नारी की बौद्धिक गरिमा का अद्भुत उदाहरण है।

गार्गी केवल एक ऐतिहासिक पात्र नहीं, अपितु भारतीय ज्ञान-परम्परा की अमर चेतना हैं। उनका जीवन हमें यह संदेश देता है कि सच्चा ज्ञान प्रश्न करने से प्राप्त होता है, विनम्रता से पुष्ट होता है और सत्य की खोज में निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। भारतीय संस्कृति की यह महान् ब्रह्मवादिनी आज भी जिज्ञासा, चिंतन और ज्ञान की शाश्वत ज्योति के रूप में हमारा मार्ग आलोकित करती हैं।

संदर्भ

1. गर्गगोत्रापत्ये स्त्रीमात्रे तत्र वचक्नोर्दुहिता गार्गी ब्रह्मविद्योत्तमा। वृहदारण्यक उपनिषद्, गार्गी ब्राह्मण
2. अथैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति।' (षष्ठ ब्राह्मण)
3. 'गार्गि मा अतिप्राक्षीः, मा ते मूर्धा व्यपपतत्।'
4. स्वर्गलोकात् उपरि किम् अस्ति? पृथिव्याः अधः किम् अस्ति? उभयोः मध्ये किम् अस्ति? यद् भूतं, यच्च भाव्यं, तत् सर्वं केन ओतप्रोतम्? सम्पूर्णं ब्रह्माण्डं च कस्य अधीनम्?
5. 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि !*
6. 'साहोवाच ब्राह्मणा भवन्तस्तदेव बहुमन्यध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वम्। न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति। ततो ह वाचक्नव्युपरराम।' (वृहदारण्यक उपनिषद्, अष्टम ब्राह्मण)

mdpatrika4@gmail.com

संस्कृति और विश्वमानवता की आधारभाषा

डॉ. सुरेश कुमार शर्मा
संस्कृत विद्वान्, लेखक

संस्कृतभाषा पद का शाब्दिक अर्थ है परिमार्जित, परिष्कृत एवं संस्कारित भाषा। यही कारण है कि इस दिव्य एवं वैज्ञानिक भाषा का नाम संस्कृत पड़ा। यह केवल एक भाषा नहीं, अपितु भारत की पहचान, उसकी आत्मा, उसकी अस्मिता और उसकी सांस्कृतिक चेतना की संवाहिका है। भारतीय मनीषा के उदात्त विचार, आध्यात्मिक अनुभूतियाँ, जीवन-मूल्य और विश्वकल्याण की भावनाएँ इसी भाषा में अभिव्यक्त हुई हैं। अत: संस्कृत भारतीय संस्कृति की जीवनरेखा है। कहा गया है— गङ्गेव भुवं परिपावयन्ती गौरववाहिता संस्कृतभाषा॥

अर्थात् संस्कृत भाषा गंगा के समान सम्पूर्ण विश्व को पवित्र करने वाली तथा महान गौरव को धारण करने वाली है। भारतीय ऋषियों ने तप, साधना और आत्मानुभूति के बल पर इस भाषा को विकसित किया। संस्कृत में भारत का प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति, नीति, चिकित्सा, गणित, खगोल और जीवन-दर्शन संचित है। हमारा चिंतन, हमारी जीवन-शैली, हमारी परम्पराएँ और हमारी सांस्कृतिक निरन्तरता संस्कृत के कारण ही सुरक्षित एवं अक्षुण्ण बनी हुई हैं।

संस्कृत को विश्व की अनेक भाषाओं की जननी कहा जाता है। भाषा-विज्ञानियों ने भी स्वीकार किया है कि विश्व की अनेक भाषाओं के विकास में संस्कृत का गहरा प्रभाव रहा है। यह भाषा केवल प्राचीन नहीं, अपितु अत्यन्त वैज्ञानिक, व्यवस्थित और ध्वन्यात्मक दृष्टि से परिपूर्ण है। संस्कृत को देवभाषा कहा गया है, क्योंकि इसमें दिव्यता, शुद्धता और आध्यात्मिक चेतना का अद्भुत समन्वय है। इस भाषा का अध्ययन मनुष्य को देवत्व की ओर अग्रसर करता है। भारत को विश्वगुरु का सम्मान संस्कृत में निहित ज्ञान-संपदा के कारण ही प्राप्त हुआ था।

संस्कृत एक कल्पवृक्ष के समान है। इससे जो भी माँगा जाए, वह किसी-न-किसी रूप में प्राप्त होता है ज्ञान, विज्ञान, नीति, व्यवहार, लोकाचार, अध्यात्म और जीवन-मूल्यों का अमूल्य मार्गदर्शन। जिस प्रकार समुद्र-मन्थन से चौदह रत्न प्राप्त हुए थे, उसी प्रकार संस्कृत-सागर के मन्थन से वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत, दर्शन, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र और असंख्य कालजयी ग्रन्थ मानवता को प्राप्त हुए हैं।

एक समय था जब समाज और राष्ट्र-जीवन के संचालन में संस्कृत की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। तभी भारत को 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था। उस समय ज्ञान और विज्ञान दोनों अपने उत्कर्ष पर थे। नालन्दा, तक्षशिला, विक्रमशिला और वल्लभी जैसे विश्वविद्यालयों में विश्व के अनेक देशों से विद्यार्थी अध्ययन करने आते थे। भारत के चिंतन ने सम्पूर्ण विश्व को आकर्षित किया था और इस समस्त वैभव का मूलाधार संस्कृत ही थी। संस्कृत भाषा की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है—

> मधुरा ललिता हृदया रम्या कमनीयपदावली संयुता।
> गौरवार्थगुणैर्निवसन्ती कल्याणमयी संस्कृतभाषा॥

अर्थात् संस्कृत भाषा मधुर, ललित, हृदय को आनन्दित करने वाली, मनोहर पदावली से युक्त, गम्भीर अर्थों को धारण करने वाली तथा कल्याणकारी है। संस्कृत साहित्य ने विश्व-साहित्य को अमूल्य धरोहर प्रदान की है। महाकवि कालिदास के मेघदूतम् और अभिज्ञानशाकुन्तलम् ने उन्हें विश्व का अमर कवि बना दिया। संस्कृत के महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य और नाट्य-साहित्य आज भी विश्व के विद्वानों को चमत्कृत करते हैं। भारतभूमि के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है— गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।

अर्थात् देवता भी यह गीत गाते हैं कि वे लोग धन्य हैं जिन्हें भारतभूमि में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। संस्कृत ने भारतीय समाज को एक सुसंस्कृत जीवन-पद्धति प्रदान की है। उसने सत्य, अहिंसा, कर्तव्य, सदाचार, संयम और लोकमंगल की भावना को पुष्ट किया है। अध्यात्म और मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने में संस्कृत की भूमिका अद्वितीय है। आज भारतीय समाज सांस्कृतिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। मूल्य-संकट, नैतिक भ्रम और सांस्कृतिक विस्मृति के इस युग में हमें पुनः संस्कृत की ओर देखना होगा। संस्कृत का ज्ञान हमें अपनी जड़ों से जोड़ता है और सही दिशा प्रदान करता है। कहा गया है—

संस्कृतेः एव संस्काराः, संस्कारैरेव संस्कृतिः।
संस्कृत्यैव प्रतिष्ठायां राष्ट्रं भवति भारतम्॥

अर्थात् संस्कृत से संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कारों से संस्कृति का निर्माण होता है और संस्कृति के आधार पर ही भारत एक महान राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित होता है। आज आवश्यकता है कि हम संस्कृत की ओर पुनः लौटें। स्वयं संस्कृत सीखें, नई पीढ़ी को संस्कृत से जोड़ें तथा जीवन-मूल्यों को पुनः स्थापित करें। यदि हमने संस्कृत से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, तो हमारी सांस्कृतिक पहचान संकट में पड़ सकती है।

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि आज संस्कृत की क्या आवश्यकता है। परन्तु यदि हमने वास्तव में संस्कृत से सब कुछ प्राप्त कर लिया होता, तो जीवन-मूल्यों और सांस्कृतिक आदर्शों की खोज में आज भटकना नहीं पड़ता। संस्कृत आज भी सतत प्रवहमान है अपने साहित्य में, अपने संस्कारों में, अपनी प्रार्थनाओं में, अपने दर्शन में और भारतीय जनमानस की चेतना में। कहा गया है— बिना गङ्गां बिना गोदां बिना विन्ध्यं हिमाचलम्।

क्व तिष्ठेद् भारतराष्ट्रत्वं बिना गीर्वाणभारतीम्॥

अर्थात् जिस प्रकार गंगा, गोदावरी, विन्ध्य और हिमालय भारत की पहचान हैं, उसी प्रकार संस्कृत भी भारत की आत्मा है। संस्कृत के बिना भारत की सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय अस्मिता अक्षुण्ण नहीं रह सकती। अतः आइए— संस्कृत पढ़ें, संस्कृत बोलें, संस्कृत का व्यवहार करें और सुसंस्कृत बनें। क्योंकि— भाषासु मुख्या मधुरा दिव्या गीर्वाणभारती। अर्थात् समस्त भाषाओं में संस्कृत ही प्रमुख, मधुर और दिव्य भाषा है।

mdpatrika4@gmail.com

पहला सुख निरोगी काया

डॉ. नीरज त्रिपाठी
आयुर्वेद चिकित्सक

सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य का जीवन विविध संघर्षों, चुनौतियों एवं परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है। इन संघर्षों का धैर्यपूर्वक सामना करने के लिए परमात्मा ने मनुष्य को विवेक, बुद्धि तथा विचार-शक्ति प्रदान की है। परन्तु बुद्धि एवं विवेक का समुचित विकास तभी सम्भव है जब शरीर स्वस्थ एवं सुदृढ़ हो। इसी सत्य को पाश्चात्य विचारक ने इन शब्दों में व्यक्त किया है— 'A healthy mind lives in a healthy body.' अर्थात् स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। भारतीय मनीषा ने भी प्राचीनकाल से ही शरीर और मन के इस अभिन्न सम्बन्ध को स्वीकार किया है। भारतीय आयुर्वेद परम्परा ने सहस्रों वर्ष पूर्व ही स्वास्थ्य के महत्त्व को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। आयुर्वेद केवल रोगोपचार का विज्ञान नहीं, अपितु स्वस्थ एवं सार्थक जीवन जीने की सम्पूर्ण जीवन-पद्धति है। आयुर्वेद की परिभाषा में कहा गया है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

चरकसंहिता, सूत्रस्थान 1.41

अर्थात् जिस शास्त्र में हितकर एवं अहितकर आयु, सुख एवं दुःखमय जीवन, उनके हित-अहित (पथ्य-अपथ्य), आयु का स्वरूप, प्रमाण तथा उसके संरक्षण के उपायों का वर्णन किया गया हो, वही आयुर्वेद कहलाता है।

आयुर्वेद के अनुसार केवल रोगरहित होना ही स्वास्थ्य नहीं है। वास्तविक स्वास्थ्य वह है जिसमें शरीर, मन, इन्द्रियाँ तथा आत्मा सभी संतुलित एवं प्रसन्न हों। इसी कारण चरक एवं सुश्रुत परम्परा में स्वास्थ्य को समग्र (Holistic) दृष्टि से देखा गया है। सुश्रुतसंहिता में स्वस्थ व्यक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान 15.48

अर्थात् जिसके वात, पित्त एवं कफ सम अवस्था में हों, जठराग्नि सम हो, सप्तधातुएँ तथा मलों की क्रियाएँ संतुलित हों तथा जिसकी आत्मा, इन्द्रियाँ और मन प्रसन्न हों, वही वास्तव में स्वस्थ कहलाता है।

आयुर्वेद में सुख आयु का विशेष महत्त्व बताया गया है। सुख आयु वह है जिसमें मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक रोगों से मुक्त हो, शरीर में पर्याप्त बल, ओज एवं उत्साह हो, वह पराक्रमी, ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न तथा विवेकशील हो। उसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का सम्यक् ग्रहण करने में समर्थ हों, जीवनोपयोगी साधनों से युक्त हो तथा धर्मसम्मत रीति से अपनी इच्छित गतिविधियों का संचालन करने में सक्षम हो। इसके विपरीत रोग, निर्बलता, मानसिक अशान्ति, असंयम एवं पराधीनता से युक्त जीवन दुःख आयु कहलाता है।

इसी प्रकार आयुर्वेद हित आयु का वर्णन करता है। हित आयु वह है जिसमें मनुष्य समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री एवं करुणा का भाव रखता हो, परधन की इच्छा न करता हो, सत्यवादी, संयमी, शांतिप्रिय तथा विवेकशील हो। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों का संतुलित एवं मर्यादित रूप से पालन करता हो, गुरुजनों एवं वृद्धों का सम्मान करता हो, क्रोध, लोभ, मद, मोह, अभिमान एवं मिथ्याचार का त्याग करता हो तथा तप, ज्ञान, सदाचार एवं लोकमंगल की भावना से प्रेरित होकर जीवनयापन करता हो। इसके विपरीत आचरण अहित आयु कहलाता है, जो अन्ततः व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए दुःखदायी सिद्ध होता है।

आयुर्वेद का मूल उद्देश्य केवल रोग का उपचार करना नहीं है, अपितु उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। इसी सिद्धान्त को

चरकाचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है— स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम् आतुरस्य विकारप्रशमनं च। चरकसंहिता, सूत्रस्थान 30.26 अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा रोगी के रोगों का शमन करना, यही आयुर्वेद का प्रधान उद्देश्य है। स्वास्थ्य की महत्ता का वर्णन करते हुए आयुर्वेद में प्रसिद्ध उक्ति मिलती है— धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि का मूल आधार उत्तम स्वास्थ्य है। यदि शरीर स्वस्थ नहीं है, तो जीवन के किसी भी उच्च उद्देश्य की प्राप्ति कठिन हो जाती है।

चरकसंहिता में शरीर की रक्षा के महत्त्व को अत्यन्त सुन्दर उपमा के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार कोई सजग राजा अपने राज्य की तथा कुशल सारथि अपने रथ की निरन्तर रक्षा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य को अपने शरीर की रक्षा के प्रति सदैव सावधान रहना चाहिए। शरीर को अनुचित आहार-विहार, असंयम, आलस्य, अतिभोजन, निद्राविकार, मानसिक तनाव तथा अन्य दोषों से बचाना आवश्यक है, क्योंकि यही शरीर समस्त पुरुषार्थों की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। भारतीय परम्परा में शरीर के महत्त्व अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया गया है– शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। अर्थात् यह शरीर ही समस्त धर्ममय एवं श्रेष्ठ कर्मों का प्रथम साधन है। अत: इसकी रक्षा, शुद्धि एवं पोषण प्रत्येक मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है।

आज के आधुनिक युग में अनियमित दिनचर्या, तनाव, प्रदूषण, जंक-फूड, शारीरिक निष्क्रियता तथा डिजिटल जीवनशैली के कारण अनेक जीवनशैली-जनित (Lifestyle) रोग तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में आयुर्वेद का दिनचर्या, ऋतुचर्या, सद्वृत्त, संतुलित आहार, नियमित व्यायाम, योग, प्राणायाम तथा मानसिक संयम सम्बन्धी उपदेश पहले से भी अधिक प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। अत: हमारा लक्ष्य केवल दीर्घायु होना नहीं, अपितु हित आयु, सुख आयु तथा आरोग्ययुक्त जीवन प्राप्त करना होना चाहिए। ऐसा न हो कि मनुष्य दीर्घकाल तक जीवित तो रहे, किन्तु जीवन का एक बड़ा भाग रोगग्रस्त एवं परावलम्बी होकर व्यतीत करे। वास्तविक सफलता उसी जीवन की है जो स्वस्थ, संतुलित, आत्मनिर्भर, सदाचारी तथा लोकहितकारी हो। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने शरीर, मन एवं आचरण की शुद्धि बनाए रखते हुए स्वास्थ्य की रक्षा के प्रति सदैव सजग, अनुशासित एवं तत्पर रहे। यही स्वस्थ, सुखी और सफल जीवन का वास्तविक आधार है।

mdpatrika4@gmail.com

चिकित्सा : व्यवसाय नहीं, मानवता की सर्वोच्च सेवा

संदीप तिवारी 'कृपके'
सुधी संस्कृत अध्यापक

मनुष्य के जीवन में स्वास्थ्य का स्थान सर्वोपरि है। स्वस्थ शरीर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की साधना का आधार है। आयुर्वेद के महान आचार्य चरक ने स्पष्ट कहा है— धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्। (चरकसंहिता, सूत्रस्थान १)

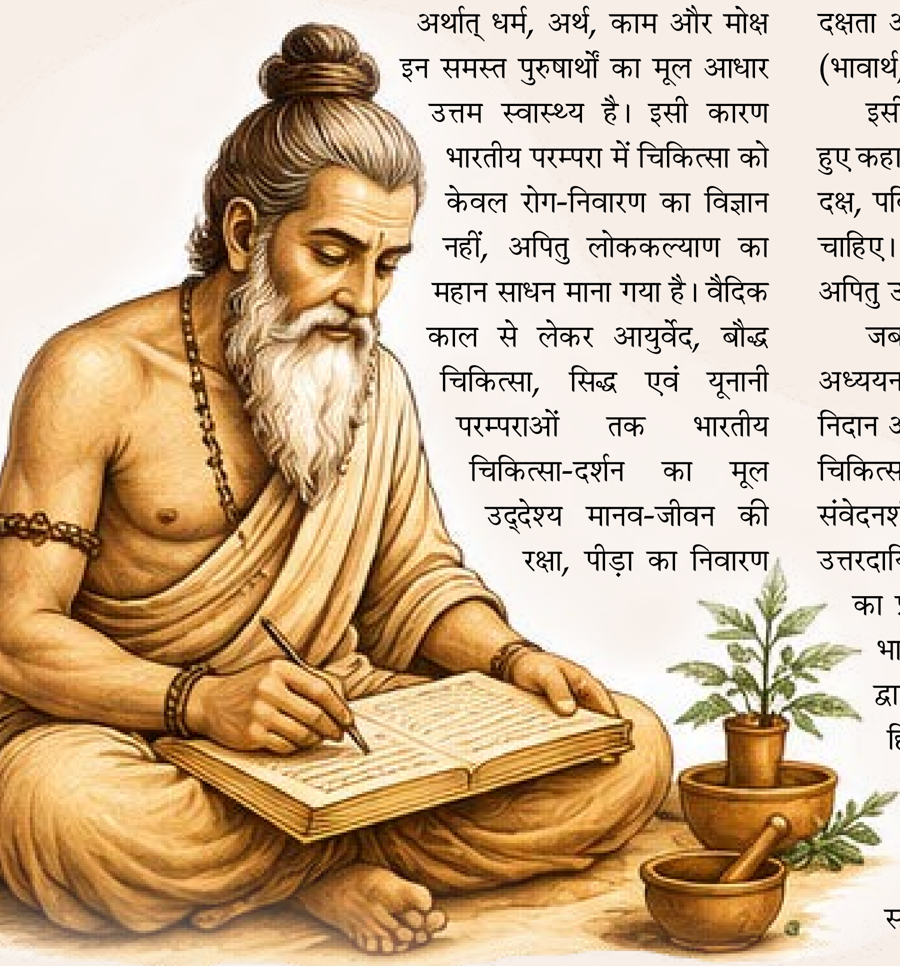

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन समस्त पुरुषार्थों का मूल आधार उत्तम स्वास्थ्य है। इसी कारण भारतीय परम्परा में चिकित्सा को केवल रोग-निवारण का विज्ञान नहीं, अपितु लोककल्याण का महान साधन माना गया है। वैदिक काल से लेकर आयुर्वेद, बौद्ध चिकित्सा, सिद्ध एवं यूनानी परम्पराओं तक भारतीय चिकित्सा-दर्शन का मूल उद्देश्य मानव-जीवन की रक्षा, पीड़ा का निवारण तथा समाज के स्वास्थ्य का संवर्धन रहा है।

भारतीय चिकित्सा परम्परा में वैद्य का स्थान अत्यन्त सम्माननीय माना गया है। सुश्रुतसंहिता में वैद्य के लिए केवल विद्वान होना पर्याप्त नहीं माना गया, अपितु शुद्ध आचरण, करुणा, संयम और सेवा-भाव को भी अनिवार्य बताया गया है। आचार्य सुश्रुत के अनुसार 'न केवलं शास्त्रविद्या', अपितु शील, दक्षता और करुणा ही चिकित्सक की वास्तविक पहचान है। (भावार्थ, सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान)

इसी प्रकार चरकसंहिता में वैद्य के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चिकित्सक शास्त्र का ज्ञाता, अनुभवसम्पन्न, दक्ष, पवित्र आचरण वाला तथा रोगी के प्रति करुणाशील होना चाहिए। चिकित्सा का उद्देश्य रोगी से लाभ अर्जित करना नहीं, अपितु उसके दु:ख का निवारण करना है।

जब कोई विद्यार्थी आधुनिक चिकित्सा (एमबीबीएस) का अध्ययन करता है, तब उसे केवल शरीर की संरचना, रोगों के निदान और उपचार की तकनीक ही नहीं सिखाई जाती, अपितु चिकित्सा-नैतिकता (Medical Ethics), मानवीय संवेदनशीलता, गोपनीयता, सहानुभूति तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का भी प्रशिक्षण दिया जाता है। आधुनिक चिकित्सा का प्रसिद्ध हिप्पोक्रेटिक ओथ (Hippocratic Oath) तथा भारत के National Medical Commission (NMC) द्वारा निर्धारित आचार-संहिता भी चिकित्सक को रोगी के हित को सर्वोपरि रखने का निर्देश देती है।

भारतीय दर्शन में सेवा को सर्वोच्च धर्म माना गया है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण लोकसंग्रह की भावना से कर्म करने का उपदेश देते हैं 'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि'। (भगवद्गीता ३.२०)

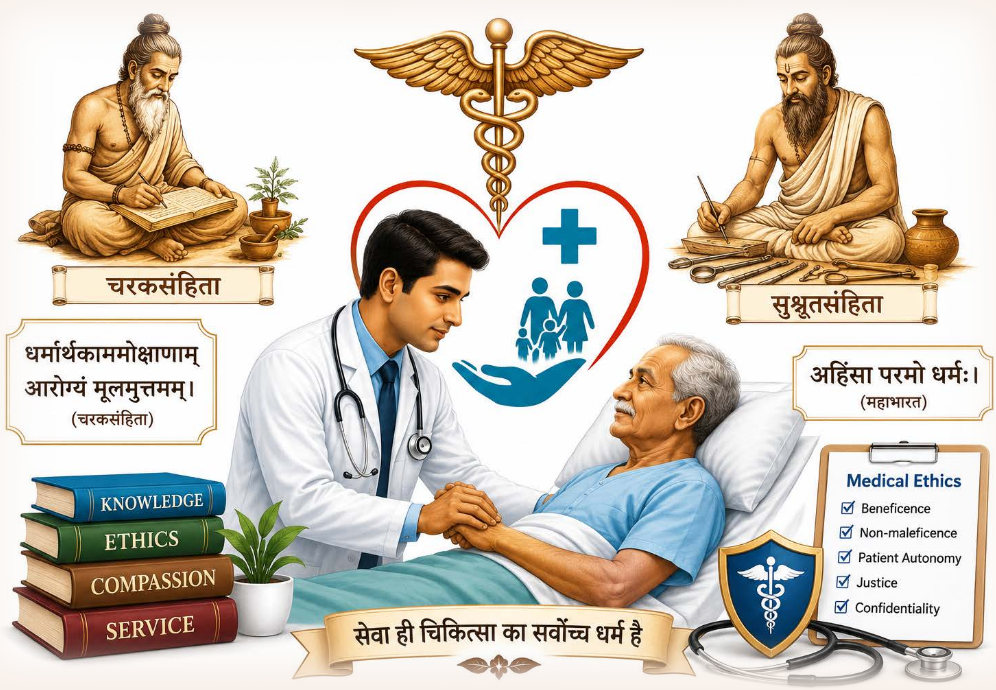

अर्थात् समाज के कल्याण की दृष्टि से भी मनुष्य को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। चिकित्सा के क्षेत्र में यह सिद्धान्त और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि चिकित्सक के निर्णय पर किसी व्यक्ति का जीवन और किसी परिवार की आशाएँ निर्भर होती हैं।

यद्यपि आज भी देश में असंख्य चिकित्सक अत्यन्त समर्पण, ईमानदारी और सेवा-भाव से अपने दायित्वों का निर्वहन कर रहे हैं तथा संकट की प्रत्येक घड़ी में मानवता की रक्षा के लिए तत्पर रहते हैं, तथापि कुछ स्थानों पर ऐसी घटनाएँ भी सामने आती हैं, जहाँ चिकित्सा-व्यवस्था पर व्यावसायिकता का अत्यधिक प्रभाव दिखाई देता है। कहीं-कहीं रोगियों को आवश्यकता से अधिक समय तक अस्पताल में भर्ती रखा जाता है, अनिवार्य न होने पर भी अनेक महँगी जाँचें कराई जाती हैं अथवा अत्यधिक लागत वाले उपचारों की अनुशंसा की जाती है। यदि ऐसा केवल आर्थिक लाभ की दृष्टि से किया जाता है, तो यह चिकित्सा के मूल नैतिक आदर्शों के विपरीत है।

यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि प्रत्येक महँगा उपचार अथवा अतिरिक्त जाँच अनैतिक नहीं होती। अनेक जटिल रोगों में उन्नत परीक्षण और आधुनिक तकनीक चिकित्सा की आवश्यकता होती है। अतः किसी भी परिस्थिति का मूल्यांकन तथ्यों, चिकित्सकीय आवश्यकता और वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। कुछ अपवादों के आधार पर सम्पूर्ण चिकित्सा समुदाय के प्रति अविश्वास उत्पन्न करना न तो न्यायसंगत है और न ही समाजहित में है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि चिकित्सा संस्थान, चिकित्सक, नीति-निर्माता तथा समाज सभी चिकित्सा की मूल भावना को पुनः सुदृढ़ करें। अस्पतालों में रोगी-केन्द्रित (Patient-Centric) व्यवस्था विकसित हो, उपचार की प्रक्रिया पारदर्शी हो, रोगी एवं उसके परिजनों को स्पष्ट और सही जानकारी प्रदान की जाए तथा आर्थिक हितों की अपेक्षा चिकित्सा-नैतिकता को सर्वोच्च स्थान दिया जाए। राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग, राज्य चिकित्सा परिषदें तथा सम्बन्धित नियामक संस्थाएँ भी आचार-संहिता का प्रभावी पालन सुनिश्चित करें और किसी भी प्रकार की अनियमितता पर निष्पक्ष एवं समयबद्ध कार्रवाई करें। भारतीय संस्कृति में करुणा को चिकित्सा का प्राण माना गया है। महाभारत में कहा गया है—अहिंसा परमो धर्मः।

रोगी के प्रति संवेदनशील व्यवहार, उसकी पीड़ा को समझना तथा उसके हित में निर्णय लेना भी इसी व्यापक अहिंसा और करुणा का व्यावहारिक रूप है। चिकित्सा का वास्तविक मूल्य आधुनिक उपकरणों, भव्य भवनों अथवा महँगी औषधियों में नहीं, अपितु चिकित्सक की संवेदनशीलता, नैतिकता और सेवा-भाव में निहित है।

वास्तव में चिकित्सक के हाथों में केवल स्टेथोस्कोप या शल्य-उपकरण नहीं होते, अपितु किसी परिवार की आशाएँ, विश्वास और भविष्य भी सुरक्षित रहता है। इसलिए चिकित्सा का परम उद्देश्य लाभ-संचय नहीं, अपितु मानव-जीवन की रक्षा, पीड़ा का निवारण और समाज के स्वास्थ्य का संवर्धन होना चाहिए। जब चिकित्सा विज्ञान, नैतिकता और करुणा का समन्वय होता है, तभी चिकित्सा अपने वास्तविक अर्थ में लोकमंगल का माध्यम बनती है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि चिकित्सा तभी तक महान है, जब तक उसमें सेवा का भाव, करुणा की संवेदना, ज्ञान की प्रामाणिकता और नैतिकता की दृढ़ता विद्यमान रहती है। जहाँ चिकित्सा में नैतिकता सुरक्षित रहती है, वहीं रोगी का विश्वास, समाज का सम्मान और मानवता का भविष्य भी सुरक्षित रहता है।

mdpatrika4@gmail.com

वैदिक जीवन पथ

भारतीय जीवन-दर्शन के आधार संस्कार

आशुतोष मणि त्रिपाठी
वैदिक विद्वान्

'सम् + कृ (कृञ्) + घञ्' से निष्पन्न 'संस्कार' शब्द भारतीय वाङ्मय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक एवं सांस्कृतिक पद है। व्युत्पत्तिगत दृष्टि से इसका अर्थ है— सम्यक् प्रकारेण कृतः परिष्कारः, अर्थात् ऐसा परिमार्जन या परिष्करण जिसके द्वारा किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व को अधिक उत्कृष्ट, शुद्ध, परिपक्व एवं उपयोगी बनाया जाए। संस्कृत साहित्य में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है, जैसे— संस्कृति, प्रशिक्षण, शिक्षण, शुद्धि, परिष्कार, संस्करण, परिमार्जन, सौजन्य, पूर्णता, अलङ्कार, शोभा, प्रभाव, छाप, स्वरूप, क्रिया तथा गुणाधान आदि। परन्तु भारतीय दर्शन में इसका अर्थ केवल बाह्य परिष्कार तक सीमित नहीं है, अपितु वह मनुष्य के अन्तःकरण के शोधन, व्यक्तित्व-निर्माण तथा आध्यात्मिक उन्नयन का द्योतक है। पूर्वमीमांसा दर्शन में 'संस्कार' का विशेष तकनीकी अर्थ है— 'प्रोक्षणादिजन्यः संस्कारो यज्ञाङ्गपुरोडाशेषु।' अर्थात् यज्ञ में प्रयुक्त पुरोडाश आदि यज्ञाङ्गों को प्रोक्षणादि विधियों द्वारा यज्ञोपयोगी बनाने की प्रक्रिया 'संस्कार' कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में संस्कार का उद्देश्य किसी वस्तु या व्यक्ति को उसके श्रेष्ठतम स्वरूप के योग्य बनाना है। भारतीय धर्मशास्त्रों एवं गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या एकरूप नहीं है। विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मतानुसार भिन्न-भिन्न संख्या स्वीकार की है—

» महर्षि गौतम — 40 संस्कार
» मनु — षोडश (16) संस्कार
» आश्वलायन — 11 संस्कार
» वैखानस — 18 संस्कार
» पारस्कर — 13 संस्कार

यद्यपि मतभेद संख्या में है, तथापि उद्देश्य सर्वत्र एक ही है, मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक परिष्कार। भारतीय समाज में विशेष रूप से मान्य षोडश संस्कार हैं— गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ-सम्बन्धी संस्कार (कुछ परम्पराओं में) तथा अन्त्येष्टि। विभिन्न परम्पराओं में इनकी सूची में अल्प परिवर्तन भी दृष्टिगोचर होता है।

संस्कार की अवधारणा मूलतः भारतीय संस्कृति की देन है। भारतीय दर्शन आत्मा की नित्य सत्ता, पुनर्जन्म तथा कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इसी कारण यहाँ मनुष्य का निर्माण केवल जैविक जन्म से नहीं, अपितु संस्कारों से माना गया है। स्कन्दपुराण में कहा गया है— जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य जन्म से सामान्य होता है; संस्कारों के द्वारा ही वह श्रेष्ठ, विद्वान् एवं उत्तरदायी नागरिक बनता है। यहाँ 'द्विज' का तात्पर्य केवल वर्ण-व्यवस्था नहीं, अपितु ज्ञान, सदाचार एवं आत्मोन्नति से है। अतः संस्कार मनुष्य के मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, भावनाओं तथा चरित्र का परिष्कार करते हैं। स्नानादि से शरीर की शुद्धि होती है, परन्तु संस्कार अन्तःकरण की शुद्धि एवं व्यक्तित्व के निर्माण का साधन हैं। आदि शङ्कराचार्य संस्कार की अत्यन्त सुन्दर परिभाषा देते हैं— 'संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्यात् दोषापनयनेन वा।'

(ब्रह्मसूत्रभाष्य 1.1.4) अर्थात् जिस प्रक्रिया से किसी व्यक्ति या वस्तु में गुणों का आधान तथा दोषों का निवारण किया जाए, वही संस्कार है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि केवल दोषों का त्याग पर्याप्त नहीं और केवल गुणों का ग्रहण भी पर्याप्त नहीं; संस्कार के लिए दोषापनयन तथा गुणाधान दोनों का समन्वय आवश्यक है।

संस्कार केवल व्यक्तिगत उन्नति का साधन नहीं, अपितु सामाजिक निर्माण की भी आधारशिला हैं। श्रेष्ठ व्यक्तियों के सदाचार, अनुशासन एवं आदर्श व्यवहार का प्रभाव उनकी संतानों तथा आगामी पीढ़ियों पर पड़ता है। जब किसी समाज में अनेक पीढ़ियों तक श्रेष्ठ संस्कार सुरक्षित रहते हैं, तब वे उस समाज की संस्कृति एवं सामूहिक पहचान बन जाते हैं। इसके विपरीत यदि मनुष्य प्रमादवश अपने संस्कारों की उपेक्षा करता है तो उसका नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन आरम्भ हो जाता है। महाभारत में कहा गया है— प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि। अप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि॥ अर्थात् प्रमाद ही वास्तविक मृत्यु है और सजगता तथा सतत् आत्मपरिष्कार अमरत्व का मार्ग है।

आयुर्वेदाचार्य महर्षि चरक संस्कार की अत्यन्त वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं— 'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते।' (चरकसंहिता, सूत्रस्थान 26) अर्थात् किसी पदार्थ में नवीन एवं श्रेष्ठ गुणों का आधान करना ही संस्कार है। इसी प्रकार वे कहते हैं— 'करणं हि नाम स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कार:।' अर्थात् स्वाभाविक पदार्थों का विशेष प्रकार से परिष्कार करना ही 'करण' है। जैसे दूध का दही, मक्खन तथा घृत में रूपान्तरण केवल रूप-परिवर्तन नहीं, अपितु संस्कार की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसी प्रकार धातु-अयस्क को विविध प्रक्रियाओं द्वारा परिष्कृत करने पर वही साधारण पदार्थ बहुमूल्य धातु का रूप धारण कर लेता है।

मनुष्य के साथ भी यही सिद्धान्त लागू होता है। उचित शिक्षा, अनुशासन, सदाचार, स्वाध्याय, तप, सेवा, सत्संग एवं आध्यात्मिक साधना उसके व्यक्तित्व को दिव्यता प्रदान करते हैं। इसी तथ्य को लोकप्रसिद्ध उक्ति में व्यक्त किया गया है— 'यन्नवे भाजने लग्न: संस्कारो नान्यथा भवेत्।' अर्थात् नवीन पात्र पर पड़ा संस्कार स्थायी हो जाता है। इसी कारण बाल्यावस्था को संस्कारारोपण की सर्वाधिक उपयुक्त अवस्था माना गया है।

वर्तमान युग तीव्र भौतिक प्रगति का युग है, किन्तु इसके साथ नैतिक एवं सांस्कृतिक चुनौतियाँ भी बढ़ी हैं। उपभोक्तावाद, तात्कालिक सुख, सामाजिक माध्यमों का अनियन्त्रित प्रभाव तथा पाश्चात्य जीवनशैली का अन्धानुकरण अनेक बार युवाओं को अपने सांस्कृतिक मूल्यों से दूर ले जाता है। परिणामस्वरूप पारिवारिक विघटन, नैतिक शिथिलता, असंयम, हिंसा तथा सामाजिक असंतुलन जैसी समस्याएँ बढ़ती दिखाई देती हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रत्येक नवीन परम्परा अनुचित है, अपितु यह है कि किसी भी उत्सव, व्यवहार या जीवन-पद्धति का मूल्यांकन विवेक, नैतिकता तथा सांस्कृतिक दृष्टि से होना चाहिए। जो आचरण मानवता, सदाचार, करुणा, आत्मानुशासन एवं लोकमंगल को पुष्ट करे वही वास्तविक संस्कृति का अंग है। अत: आज आवश्यकता है कि संस्कारों को केवल धार्मिक अनुष्ठान न मानकर व्यक्तित्व-निर्माण की जीवन-पद्धति के रूप में समझा जाए। परिवार, विद्यालय, समाज तथा राष्ट्र— सभी के समन्वित प्रयास से ही संस्कारित नागरिकों का निर्माण सम्भव है। संस्कार ही मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करते हैं तथा उसी के माध्यम से सभ्यता संस्कृति में रूपान्तरित होती है।

निष्कर्षत:, संस्कार भारतीय जीवन-दर्शन की आत्मा हैं। वे केवल कर्मकाण्ड नहीं, अपितु व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र के समग्र विकास की आधारशिला हैं। जहाँ संस्कार हैं, वहाँ सदाचार, उत्तरदायित्व, अनुशासन, करुणा और लोकमंगल की भावना स्वत: विकसित होती है। इसलिए संस्कारों का संरक्षण, संवर्धन और सम्यक् पालन ही भारतीय संस्कृति की निरन्तरता तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य का सबसे सशक्त आधार है।

mdpatrika4@gmail.com

मानवता के शाश्वत ज्ञानपुञ्ज हैं वेद

स्वामी डॉ. निर्मल दास
विद्वान् कथावाचक

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।" अर्थात् समस्त धर्म, संस्कृति और जीवन-मूल्यों का मूल स्रोत वेद हैं। वेद भारतीय सभ्यता, संस्कृति और सनातन ज्ञान-परम्परा के सर्वप्राचीन, सर्वाधिक प्रामाणिक तथा शाश्वत ग्रन्थ हैं। अत: वेद केवल ग्रन्थ नहीं, अपितु समस्त ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन और जीवन-दृष्टि के आदिस्रोत हैं। भारतीय मनीषा का विश्वास है कि जिन दिव्य मन्त्रों का साक्षात्कार ऋषियों ने तप, साधना और समाधि की परम अवस्था में किया, वही वेद कहलाए। इसीलिए वेदों को अपौरुषेय अर्थात् मानव-रचित नहीं, अपितु दिव्य ज्ञान का प्राकट्य माना गया है।

वैदिक साहित्य के संहिता के रूप में चार प्रमुख प्रारूप हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। ऋग्वेद में प्रकृति और देवशक्तियों की स्तुतियों के माध्यम से सृष्टि के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। यजुर्वेद यज्ञ, कर्तव्य और अनुशासित कर्म की व्यवस्था प्रस्तुत करता है। सामवेद उपासना, संगीत और आध्यात्मिक भाव-जागरण का आधार है, जबकि अथर्ववेद में स्वास्थ्य, लोककल्याण, पर्यावरण, औषधि, सामाजिक व्यवस्था तथा मानव जीवन के व्यावहारिक पक्षों से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण मन्त्र संगृहीत हैं। इन चारों वेदों के माध्यम से भारतीय जीवन के आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आयामों का समग्र स्वरूप प्रकट होता है।

वेद केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित ग्रन्थ नहीं हैं। वे मनुष्य को जीवन जीने की समग्र कला सिखाते हैं। उनमें सत्य, ऋत (सार्वभौमिक व्यवस्था), धर्म, आत्मसंयम, परोपकार, सदाचार, कर्तव्यनिष्ठा, प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता, परिवार की पवित्रता तथा विश्वबंधुत्व जैसे सार्वकालिक जीवन-मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है। वेद मनुष्य को केवल भौतिक समृद्धि का मार्ग नहीं दिखाते, अपितु उसे आत्मोन्नति, लोकमंगल और मोक्ष की दिशा में भी प्रेरित करते हैं। वेदों का उदार और सार्वभौमिक दृष्टिकोण उनके मन्त्रों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। जैसे— "आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:।" (ऋग्वेद 1.89.1)

अर्थात् हमारे पास संसार की सभी दिशाओं से श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी विचार आते रहें। यह मन्त्र भारतीय संस्कृति की उदारता, बौद्धिक खुलापन और सार्वभौमिक ज्ञान-दृष्टि का प्रतीक है। इसी प्रकार वेद सम्पूर्ण मानवता के कल्याण की भावना को उद्घोषित करते हैं— "सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्॥"

अर्थात् सभी सुखी हों, सभी निरोग रहें, सभी का जीवन मंगलमय हो तथा किसी को भी दु:ख का भागी न बनना पड़े। यही वैदिक संस्कृति का वैश्विक मानवतावाद है।

वर्तमान वैज्ञानिक और तकनीकी युग में भी वेदों की प्रासंगिकता अक्षुण्ण बनी हुई है। पर्यावरण संरक्षण, प्राकृतिक संसाधनों के संतुलित उपयोग, सामाजिक समरसता, नैतिक जीवन, आत्मानुशासन, मानसिक शान्ति तथा वैश्विक सद्भाव जैसे विषयों पर वेदों का दृष्टिकोण आज पहले से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान जहाँ बाह्य जगत् की शक्तियों का अन्वेषण करता है, वहीं वेद मनुष्य के अन्तर्जगत् को प्रकाशित कर उसे विवेक, संतुलन और उत्तरदायित्व का मार्ग दिखाते हैं। इस प्रकार विज्ञान और अध्यात्म का समन्वित दृष्टिकोण वेदों की एक विशिष्ट विशेषता है।

भारतीय परम्परा में वेदों को केवल पढ़ने का नहीं,

अपितु जीवन में उतारने का आग्रह किया गया है। वेद का वास्तविक अध्ययन तभी सार्थक होता है, जब उसके आदर्श हमारे आचरण, व्यवहार और सामाजिक जीवन में प्रकट हों। सत्य, सेवा, संयम, कर्तव्यपरायणता, प्रकृति के प्रति सम्मान तथा समस्त प्राणिमात्र के प्रति करुणा यही वैदिक जीवन-पद्धति के आधार हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि नई पीढ़ी वेदों को केवल प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ के रूप में न देखकर उन्हें मानव सभ्यता की अमूल्य ज्ञान-संपदा के रूप में समझे। वैदिक ज्ञान-परम्परा का संरक्षण, अध्ययन, अनुसंधान तथा जन-जन तक उसका प्रसार प्रत्येक भारतीय का सांस्कृतिक दायित्व है। यही हमारी प्राचीन विरासत के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी और यही भारत की सांस्कृतिक चेतना, नैतिक पुनर्जागरण तथा "विश्वकल्याण" की सनातन भावना को सुदृढ़ करने का सर्वोत्तम माध्यम भी है।

mdpatrika4@gmail.com

सांस्कृतिक धरोहर है इतिहास

सुलभा मिश्रा
इतिहास अध्येता

किसी भी राष्ट्र की वास्तविक पहचान केवल उसकी भौगोलिक सीमाओं, आर्थिक समृद्धि अथवा वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों से निर्धारित नहीं होती, अपितु उसके इतिहास, सांस्कृतिक विरासत, जीवन-मूल्यों तथा जीवंत परम्पराओं से निर्मित होती है। यही तत्व किसी समाज की सामूहिक स्मृति का निर्माण करते हैं, उसकी अस्मिता को सुरक्षित रखते हैं तथा वर्तमान और भविष्य के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होते हैं। यदि वर्तमान को एक विशाल वृक्ष माना जाए, तो इतिहास उसकी जड़, संस्कृति उसका तना और परम्पराएँ उसकी शाखाएँ हैं, जिन पर सभ्यता के ज्ञान, अनुभव और जीवन-मूल्यों के पुष्प एवं फल विकसित होते हैं।

इतिहास मनुष्य के अतीत का केवल घटनाक्रम नहीं है। प्रसिद्ध इतिहासकार ई. एच. कार के अनुसार, 'इतिहास अतीत और वर्तमान के मध्य सतत संवाद है।' इतिहास हमें यह समझने का अवसर प्रदान करता है कि समाज, राज्य, धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति समय के साथ किस प्रकार विकसित हुए तथा विभिन्न परिस्थितियों में मानव सभ्यता ने किस प्रकार स्वयं को परिवर्तित और समृद्ध किया। इस दृष्टि से इतिहास केवल राजाओं, युद्धों और साम्राज्यों का विवरण नहीं, अपितु मानव-जीवन के समग्र विकास का प्रामाणिक दस्तावेज है। भारतीय परम्परा में भी इतिहास को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में इतिहास का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शिक्षा से जोड़ा गया है—

> धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
> पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश देने वाली तथा पूर्ववृत्त घटनाओं का वर्णन करने वाली रचना इतिहास कहलाती है। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय इतिहास-दृष्टि केवल घटनाओं का संकलन नहीं, अपितु जीवन-मूल्यों के संरक्षण और लोकशिक्षा का भी माध्यम रही है।

इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए इस पत्रिका में 'इतिहास, परम्परा और संस्कृति' शीर्षक से यह विशेष आलेख-खंड प्रारम्भ किया जा रहा है। इसका उद्देश्य केवल ऐतिहासिक तथ्यों का संग्रह प्रस्तुत करना नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-परम्परा की समग्र एवं प्रमाणिक समझ विकसित करना है। प्रत्येक आलेख शोधपरक, साक्ष्य-आधारित, संतुलित तथा सरल भाषा में प्रस्तुत किया जाएगा, जिससे विद्यार्थी, शोधार्थी, अध्यापक, प्रतियोगी परीक्षाओं के अभ्यर्थी तथा इतिहास में रुचि रखने वाला प्रत्येक पाठक लाभान्वित हो सके।

इस खंड में भारतीय इतिहास की प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक तीनों धाराओं का सम्यक् विवेचन किया जाएगा। सिंधु–सरस्वती सभ्यता के सुविकसित नगरों से लेकर वैदिक संस्कृति के उद्‌भव एवं विकास तक, महाजनपदों से मौर्य, शुंग, सातवाहन, कुषाण और गुप्त साम्राज्यों तक, दक्षिण भारत के चोल, पल्लव, पाण्ड्य, राष्ट्रकूट तथा विजयनगर जैसे गौरवशाली राजवंशों से लेकर मध्यकालीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संरचनाओं तक तथा आधुनिक भारत के स्वतंत्रता आंदोलन, संविधान-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया तक—प्रत्येक महत्त्वपूर्ण चरण का अध्ययन अभिलेखीय, पुरातात्त्विक, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक साक्ष्यों के आलोक में प्रस्तुत किया जाएगा।

इतिहास के साथ-साथ भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को भी समान महत्त्व दिया जाएगा। भारतीय संस्कृति केवल प्राचीनता का पर्याय नहीं, अपितु निरन्तर विकसित होने वाली एक जीवंत परम्परा है। हमारे पर्व-त्योहार, संस्कार, लोकाचार, शिक्षा-पद्धति, दर्शन, योग, आयुर्वेद, संगीत, नृत्य, चित्रकला, स्थापत्य, मूर्तिकला, साहित्य, लोकसाहित्य, भाषाएँ तथा विविध सांस्कृतिक परम्पराएँ भारतीय सभ्यता की बहुआयामी पहचान

हैं। यूनेस्को (UNESCO) द्वारा प्रतिपादित 'अमूर्त सांस्कृतिक विरासत' (Intangible Cultural Heritage) की अवधारणा भी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि किसी समाज की पहचान केवल उसके स्मारकों से नहीं, अपितु उसकी जीवंत सांस्कृतिक परम्पराओं से भी निर्मित होती है।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी निरन्तरता, समन्वयशीलता तथा ग्रहणशीलता रही है। वैदिक साहित्य में प्रतिपादित 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' (ऋग्वेद 10.191.2), उपनिषदों का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे सार्वभौमिक आदर्श भारतीय चिंतन की विश्वमानवीय दृष्टि को अभिव्यक्त करते हैं। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति ने विविधताओं को स्वीकार करते हुए सहस्राब्दियों तक अपनी जीवन्तता बनाए रखी है।

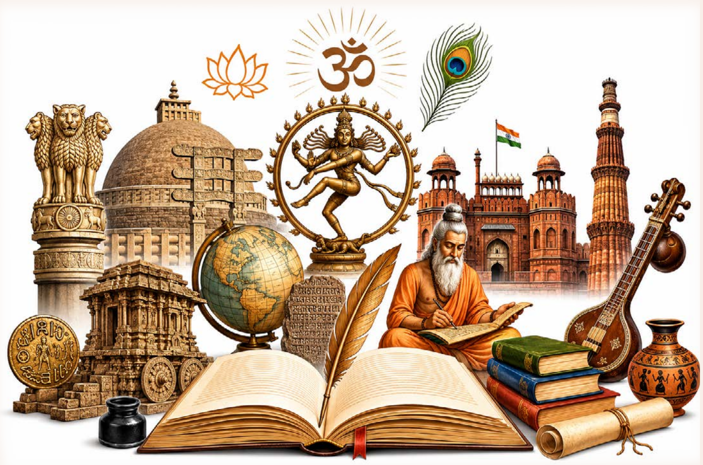

इस आलेख-खंड में पुरातत्त्व को भी विशेष स्थान दिया जाएगा, क्योंकि अनेक बार धरती की परतों में सुरक्षित पुरावशेष इतिहास के उन अध्यायों को उद्घाटित करते हैं, जिन्हें लिखित स्रोत पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाते। उत्खननों से प्राप्त नगर, दुर्ग, मंदिर, स्तूप, विहार, मूर्तियाँ, अभिलेख, ताम्रपत्र, सिक्के, मुद्राएँ, मृद्भाण्ड तथा अन्य पुरावशेष अतीत के प्रत्यक्ष एवं वस्तुनिष्ठ साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। पुरातत्त्व, अभिलेखविद्या (Epigraphy), मुद्राशास्त्र (Numismatics), पुराजीवविज्ञान, कार्बन-14 परीक्षण, डीएनए-अध्ययन तथा भू-वैज्ञानिक अनुसंधान जैसे आधुनिक वैज्ञानिक उपकरण इतिहास के पुनर्निर्माण में अत्यन्त सहायक सिद्ध हो रहे हैं। इन नवीन अनुसंधानों, प्रमुख उत्खननों तथा उनसे जुड़े विविध मतों का विवेचन भी प्रमाणों के आधार पर किया जाएगा।

इतिहास का उद्देश्य केवल अतीत का वर्णन करना नहीं, अपितु वर्तमान को समझने और भविष्य का विवेकपूर्ण निर्माण करने की दृष्टि प्रदान करना भी है। सामाजिक परिवर्तन, राजनीतिक व्यवस्थाएँ, आर्थिक विकास, सांस्कृतिक आदान-प्रदान तथा वैज्ञानिक उपलब्धियाँ—इन सभी के मूल कारणों और दीर्घकालीन प्रभावों का विश्लेषण इतिहास के माध्यम से ही सम्भव है। अतः इस खंड में केवल घटनाओं का विवरण नहीं, अपितु उनके कारण, संदर्भ, परिणाम तथा ऐतिहासिक महत्त्व का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा। वर्तमान डिजिटल युग में ऐतिहासिक विषयों से सम्बन्धित अनेक अप्रमाणित, अधूरी अथवा भ्रामक जानकारियाँ तीव्र गति से प्रसारित हो रही हैं। ऐसे समय में इतिहास के अध्ययन के लिए स्रोत-समालोचना (Source Criticism), साक्ष्य-विश्लेषण तथा वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण अत्यावश्यक हो जाता है। इस खंड का मूल उद्देश्य भी यही रहेगा कि प्रत्येक विषय को अभिलेखों, पुरातात्त्विक साक्ष्यों, समकालीन साहित्य, विदेशी यात्रियों के विवरण, वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा प्रतिष्ठित इतिहासकारों के अध्ययनों के आधार पर निष्पक्ष, संतुलित और प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया जाए, जिससे पाठक स्वयं तथ्यों के आधार पर अपने निष्कर्ष निर्मित कर सकें। इस श्रृंखला में समय-समय पर उन महान इतिहासकारों, पुरातत्त्वविदों, अभिलेखविदों, यात्रियों, विद्वानों तथा शोधकर्ताओं के योगदान का भी परिचय कराया जाएगा, जिन्होंने भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के संरक्षण, पुनर्पाठ और पुनर्निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। साथ ही भारत के प्रमुख स्मारकों, संग्रहालयों, विश्व धरोहर स्थलों, प्राचीन नगरों, सांस्कृतिक केन्द्रों तथा लोकपरम्पराओं पर आधारित विशेष शोधपरक आलेख भी प्रकाशित किए जाएँगे।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि इतिहास केवल अतीत का अध्ययन नहीं, अपितु वर्तमान के विवेक और भविष्य की दिशा का आधार है। अपनी परम्पराओं को जानना केवल भावनात्मक गौरव का विषय नहीं, अपितु उन्हें प्रमाणिक ज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टि और आलोचनात्मक विवेक के साथ समझना तथा भावी पीढ़ियों तक सुरक्षित पहुँचाना हमारी सामूहिक सांस्कृतिक जिम्मेदारी है।

आइए, इस ज्ञानयात्रा के सहभागी बनें। इतिहास को केवल स्मरण न करें, अपितु समझें; परम्पराओं को केवल निभाएँ नहीं, उनके मूल तत्त्वों का विवेकपूर्ण अध्ययन करें; और संस्कृति को केवल विरासत न मानें, अपितु मानवता की अमूल्य धरोहर के रूप में संरक्षित एवं समृद्ध करने का संकल्प लें।

mdpatrika4@gmail.com

शिक्षा का स्वरूप

डॉ. गुरिन्दर कौर
शिक्षा आचार्या

शिक्षा मानव जीवन के सर्वांगीण विकास का आधार है। यह केवल ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया नहीं, अपितु व्यक्ति के व्यक्तित्व, चरित्र, संस्कार, व्यवहार तथा जीवन-मूल्यों के निर्माण की सतत प्रक्रिया है। भारतीय परंपरा में शिक्षा को केवल जीविकोपार्जन का साधन नहीं, अपितु आत्मबोध, चरित्र-निर्माण और मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग माना गया है। उपनिषदों में कहा गया है "सा विद्या या विमुक्तये", अर्थात् वही विद्या सच्ची शिक्षा है जो मनुष्य को अज्ञान, बंधन और अविवेक से मुक्त करे। इसी प्रकार "तमसो मा ज्योतिर्गमय" का संदेश भी शिक्षा के उसी आलोकमय स्वरूप को व्यक्त करता है, जो अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाती है। शिक्षा मनुष्य को विवेकशील, उत्तरदायी, सृजनशील एवं आत्मनिर्भर बनाती है। 'शिक्षा' शब्द संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सीखना, सिखाना, ज्ञान प्राप्त करना तथा विद्या का अर्जन करना। दूसरे शब्दों में, ज्ञानार्जन के माध्यम से व्यक्ति के संस्कारों, व्यवहारों, दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व का विकास करना ही शिक्षा कहलाता है। प्राचीन भारतीय संदर्भ में शिक्षा का उद्देश्य केवल अक्षर-ज्ञान तक सीमित नहीं था, अपितु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के संतुलित विकास से जीवन को सार्थक बनाना था।

भारतीय शिक्षा-परंपरा में गुरु-शिष्य सम्बन्ध अत्यंत पवित्र और अनुशासित माना गया है। गुरुकुल व्यवस्था में बालक गुरु के सान्निध्य में रहकर केवल शास्त्रज्ञान ही नहीं, अपितु आचरण, संयम, सेवा, विनय, सत्य और कर्तव्यपालन भी सीखता था। उपनयन संस्कार के माध्यम से विद्यार्थी का औपचारिक शैक्षिक जीवन आरंभ होता था, जो इस बात का प्रतीक था कि शिक्षा एक आध्यात्मिक और नैतिक यात्रा है। अंग्रेज़ी का Education शब्द लैटिन भाषा के Educare, Educere तथा Educatum शब्दों से व्युत्पन्न माना जाता है।

» Educare का अर्थ है—पालन-पोषण करना, प्रशिक्षण देना तथा विकसित करना।
» Educere का अर्थ है—अंदर निहित शक्तियों और क्षमताओं को बाहर लाना।
» Educatum का अर्थ है—शिक्षण अथवा प्रशिक्षण की प्रक्रिया।

इन तीनों शब्दों से स्पष्ट होता है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल जानकारी देना नहीं, अपितु व्यक्ति में निहित प्रतिभा, क्षमता एवं संभावनाओं का समुचित विकास करना है। यह विचार भारतीय शिक्षा-दर्शन से भी मेल खाता है, जहाँ शिक्षा को अंतर्निहित गुणों के प्रकटीकरण और व्यक्तित्व के परिष्कार का साधन माना गया है। Universal Dictionary of the English Language के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य है शिक्षित करना, प्रशिक्षण देना, मस्तिष्क एवं चरित्र का विकास करना तथा समाज एवं राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुरूप व्यक्तित्व का निर्माण करना। इस प्रकार शिक्षा के विविध अर्थ एवं अभिप्राय शैक्षिक प्रक्रियाओं के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। प्राचीन भारत में भी शिक्षा का यही व्यापक दृष्टिकोण था, जहाँ विद्या को जीवन का प्रकाश और अविद्या को बंधन का कारण माना गया। शिक्षा बालक को विविध अनुभव प्रदान करती है और उसे इस योग्य बनाती है कि वह अपने वातावरण के साथ समायोजन स्थापित कर सके। यह उसकी जन्मजात शक्तियों, रुचियों एवं निहित योग्यताओं का पूर्ण विकास करती है, जिससे वह अपनी क्षमता के अनुरूप परिवार, समाज तथा राष्ट्र के विकास में सार्थक योगदान दे सके। प्राचीन भारतीय शिक्षा-

व्यवस्था में भी विद्यार्थी को केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं दिया जाता था, अपितु उसे प्रकृति, समाज, धर्म, नीति और जीवन के व्यावहारिक पक्षों से भी परिचित कराया जाता था।

भारतीय परंपरा में शिक्षा का स्वरूप अत्यंत व्यापक और जीवनोपयोगी था। तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी और ओदंतपुरी जैसे प्राचीन शिक्षा-केंद्रों में धर्म, दर्शन, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, राजनीति, तर्कशास्त्र और साहित्य का अध्ययन कराया जाता था। इन संस्थानों में शिक्षा का उद्‌देश्य केवल विद्वान बनाना नहीं, अपितु सुसंस्कृत, अनुशासित और समाजोपयोगी नागरिक तैयार करना था। यह परंपरा दर्शाती है कि भारतीय शिक्षा सदैव ज्ञान और जीवन के समन्वय पर आधारित रही है।

शिक्षा का प्रमुख उद्‌देश्य बालक के व्यवहार में वांछित एवं सकारात्मक परिवर्तन लाना है। यह उसकी मूल प्रवृत्तियों का परिमार्जन करती है, नैतिक मूल्यों का विकास करती है तथा उसे अनुशासित, उत्तरदायी एवं संवेदनशील नागरिक बनने की प्रेरणा देती है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया, संयम, सेवा और कर्तव्य को शिक्षा का अनिवार्य अंग माना गया है। महाभारत और मनुस्मृति जैसे ग्रंथों में भी शिक्षा को आचरण-शुद्धि और धर्मपालन से जोड़ा गया है।

आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान, विज्ञान तथा शैक्षिक प्रौद्योगिकी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान है। मनोविज्ञान बालक की रुचियों, आवश्यकताओं तथा विकासात्मक अवस्थाओं को समझने में सहायता करता है; विज्ञान शिक्षा को तर्कसंगत एवं प्रयोगात्मक बनाता है; जबकि शैक्षिक प्रौद्योगिकी शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को प्रभावी, रोचक एवं विद्यार्थी-केंद्रित बनाती है। यद्यपि आधुनिक साधन बदल गए हैं, फिर भी शिक्षा का मूल उद्‌देश्य वही है जो प्राचीन भारतीय परंपरा में था, व्यक्ति का सर्वांगीण विकास और समाज के प्रति उसकी उपयोगिता। अत: शिक्षा स्वयं में एक स्वतंत्र एवं व्यापक अवधारणा है, जिसका स्वरूप बहुआयामी है। यह मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी जैसे विभिन्न ज्ञान-विषयों से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। साथ ही, भारतीय प्राचीन परंपरा से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा केवल सूचना-संचय नहीं, अपितु चरित्र-निर्माण, आत्मानुशासन, सांस्कृतिक चेतना और जीवन-मूल्यों के विकास की प्रक्रिया है। इन सभी के समन्वित योगदान से शिक्षा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, सामाजिक उन्नति तथा राष्ट्रीय प्रगति का सशक्त माध्यम बनती है।

mdpatrika4@gmail.com

बच्चों की ऑनलाइन सुरक्षा :

ऑस्ट्रेलिया और अन्य देशों के अनुभवों से भारत क्या सीख सकता है?

श्रीमती रश्मि एस. चारी
शिक्षाविद्, लेखिका

डिजिटल क्रान्ति ने शिक्षा, संचार और ज्ञानार्जन के क्षेत्र में अभूतपूर्व संभावनाओं के द्वार खोले हैं, किन्तु इसके साथ अनेक नई चुनौतियाँ भी उत्पन्न हुई हैं। विशेषत: बच्चों और किशोरों का अनियंत्रित डिजिटल संसार से जुड़ाव आज विश्वभर में चिंता का विषय बन चुका है। इसी वर्ष गाज़ियाबाद में तीन सगी बहनों की दुखद मृत्यु ने इस समस्या को राष्ट्रीय विमर्श के केन्द्र में ला खड़ा किया। मीडिया रिपोर्टों के अनुसार 12, 14 और 16 वर्ष की आयु की इन बालिकाओं की रुचि कोरियाई ऑनलाइन सामग्री, डिजिटल गेमिंग तथा आभासी समुदायों में अत्यधिक बढ़ गई थी। यद्यपि किसी एक घटना के आधार पर प्रत्यक्ष कारण-परिणाम सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, तथापि इस घटना ने यह गंभीर प्रश्न अवश्य खड़ा कर दिया कि क्या भारत में डिजिटल युग में बढ़ रहे बच्चों की सुरक्षा के लिए वर्तमान व्यवस्थाएँ पर्याप्त हैं?

आज का बालक अपने जीवन का एक बड़ा भाग मोबाइल फोन की स्क्रीन के सामने व्यतीत कर रहा है। परिणामस्वरूप खेल के मैदान, प्रकृति का सान्निध्य, पारिवारिक संवाद, मित्रों के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क और पर्याप्त विश्राम जैसी जीवनोपयोगी गतिविधियाँ धीरे-धीरे उसके जीवन से लुप्त होती जा रही हैं। दूसरी ओर, अनुपयुक्त सामग्री, साइबर उत्पीड़न (Cyber Bullying), ऑनलाइन ठगी तथा डिजिटल अपराधियों के संपर्क का जोखिम भी निरन्तर बढ़ रहा है। इसका प्रभाव केवल व्यवहार पर ही नहीं पड़ता, अपितु बच्चों के आत्मविश्वास, मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक संतुलन तथा व्यक्तित्व-विकास पर भी पड़ता है। अनेक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में यह संकेत प्राप्त हुआ है कि अत्यधिक डिजिटल निर्भरता बच्चों में तनाव, चिंता, आक्रोश, अकेलापन तथा शरीर के प्रति हीनभावना जैसी समस्याओं को जन्म दे सकती है।

इस बढ़ती हुई समस्या का एक प्रमुख कारण सोशल मीडिया मंचों द्वारा प्रयुक्त कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित एल्गोरिद्म हैं। ये एल्गोरिद्म उपयोगकर्ता की प्रत्येक गतिविधि क्या देखा, कितना समय देखा, किसे पसंद किया, किस पर टिप्पणी की, किसे साझा किया का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं और उसी के अनुरूप निरन्तर व्यक्तिगत रुचि के अनुरूप सामग्री प्रस्तुत करते रहते हैं। परिणामस्वरूप उपयोगकर्ता, विशेषत: बच्चे, इन मंचों पर अधिकाधिक समय व्यतीत करने लगते हैं। यह डिजिटल आसक्ति धीरे-धीरे उनकी अध्ययन क्षमता, सामाजिक व्यवहार, भावनात्मक परिपक्वता तथा मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करती है।

इन्हीं चिंताओं के कारण अनेक देशों ने 16 वर्ष से कम

आयु के बच्चों के लिए सोशल मीडिया उपयोग को नियंत्रित करने की दिशा में कदम उठाए हैं। वर्ष 2024 में ऑस्ट्रेलिया इस दिशा में अग्रणी देश बना, जिसने 16 वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए प्रमुख सोशल मीडिया मंचों पर व्यापक प्रतिबंध लागू किया। केवल निजी संदेशों के आदान-प्रदान के लिए प्रयुक्त कुछ अनुप्रयोगों, जैसे व्हाट्सऐप, को सीमित रूप में अनुमति प्रदान की गई।

ऑस्ट्रेलिया ने आयु सत्यापन (Age Verification) के लिए बहुस्तरीय प्रणाली विकसित की, जिसमें उपयोग के स्वरूप के आधार पर आयु का अनुमान, चेहरे एवं वीडियो की पहचान, सरकारी पहचान-पत्र, अन्य फोटो पहचान-पत्र तथा बैंक अथवा क्रेडिट कार्ड जैसी व्यवस्थाओं का उपयोग किया गया। साथ ही नियमों का उल्लंघन करने वाली सोशल मीडिया कंपनियों पर करोड़ों डॉलर तक के आर्थिक दण्ड का प्रावधान किया गया। परिणामस्वरूप लाखों नाबालिग उपयोगकर्ताओं के खाते हटाए गए। किन्तु शीघ्र ही यह भी स्पष्ट हो गया कि अनेक किशोर साझा उपकरणों, अभिभावकों के खातों अथवा झूठी पहचान का उपयोग करके इन प्रतिबंधों को पार करने लगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल कानूनी प्रतिबंध पर्याप्त नहीं हैं; सामाजिक एवं शैक्षिक उपाय भी समान रूप से आवश्यक हैं।

यह भी विचारणीय है कि क्या सोशल मीडिया स्वयं में पूर्णतः हानिकारक है? वस्तुतः ऐसा नहीं है। यदि उसका विवेकपूर्ण उपयोग किया जाए तो वही माध्यम भाषा-अध्ययन, कौशल-विकास, शैक्षिक सामग्री, वैज्ञानिक अनुसंधान, रचनात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक जागरूकता का सशक्त साधन बन सकता है। समस्या सोशल मीडिया के अस्तित्व में नहीं, अपितु उसके अनियंत्रित, असंतुलित और निगरानीविहीन उपयोग में है। इसलिए उद्देश्य सोशल मीडिया का पूर्ण निषेध नहीं, अपितु उसके सुरक्षित, संतुलित और उत्तरदायित्वपूर्ण उपयोग की संस्कृति विकसित करना होना चाहिए।

यही कारण है कि इंग्लैंड ने ऑस्ट्रेलिया की तुलना में अपेक्षाकृत संतुलित मॉडल अपनाने का निर्णय लिया है, जिसे वर्ष 2027 से लागू किया जाना प्रस्तावित है। इस व्यवस्था में पूर्ण प्रतिबंध के स्थान पर नियंत्रित उपयोग की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। इसमें अभिभावकीय निगरानी, रात्रिकालीन सूचनाओं (Notifications) पर स्वतः रोक, बच्चों की नींद एवं मानसिक स्वास्थ्य की सुरक्षा तथा ऑटो-प्ले, 'फॉर यू' फ़ीड और दैनिक पुरस्कार (Daily Rewards) जैसे लत उत्पन्न करने वाले डिजिटल तत्त्वों पर नियंत्रण जैसे प्रावधान सम्मिलित हैं। उल्लेखनीय है कि इनमें से अनेक प्रतिबंध 18 वर्ष

तक के किशोरों पर भी लागू किए जा रहे हैं।

भारत में वर्तमान समय में बच्चों की डिजिटल सुरक्षा मुख्यत: डिजिटल पर्सनल डेटा प्रोटेक्शन (DPDP) अधिनियम, 2023 के अंतर्गत संरक्षित है। किन्तु 16 वर्ष से कम आयु के बच्चों के सोशल मीडिया उपयोग के सम्बन्ध में अभी तक कोई समग्र राष्ट्रीय नीति विकसित नहीं हुई है। यदि भारत भविष्य में आयु-आधारित नियमन की दिशा में आगे बढ़ता है, तो उसे केवल प्रतिबंध लगाने तक सीमित न रहकर एक समग्र डिजिटल सुरक्षा तंत्र विकसित करना होगा।

सबसे पहले, विश्वसनीय आयु सत्यापन प्रणाली विकसित करना आवश्यक होगा। यदि कोई बच्चा केवल गलत जन्मतिथि दर्ज करके सहजता से नया खाता बना सकता है, तो प्रतिबंध व्यावहारिक रूप से निष्प्रभावी सिद्ध होगा। साथ ही यह भी सुनिश्चित करना होगा कि आयु सत्यापन की प्रक्रिया बच्चों की निजता और व्यक्तिगत आँकड़ों की सुरक्षा से समझौता न करे।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष डिजिटल अभिभावकत्व (Digital Parenting) है। अनेक अभिभावक स्वयं यह नहीं जानते कि उनके बच्चे उनके ही खातों का उपयोग कर रहे हैं। डिजिटल युग में अभिभावकों की भूमिका केवल उपकरण उपलब्ध कराने तक सीमित नहीं रह सकती। उन्हें बच्चों की ऑनलाइन गतिविधियों, डिजिटल आदतों तथा मानसिक स्थिति पर सतत् दृष्टि रखनी होगी और यह सुनिश्चित करना होगा कि बच्चों के जीवन में अध्ययन, खेल, परिवार, मित्र तथा प्रकृति के लिए भी पर्याप्त समय उपलब्ध रहे।

तीसरा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष डिजिटल नागरिकता (Digital Citizenship) की शिक्षा है। जिस प्रकार बच्चों को सड़क पर सुरक्षित चलने का प्रशिक्षण दिया जाता है, उसी प्रकार उन्हें डिजिटल संसार में भी सुरक्षित, नैतिक एवं उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। विद्यालयों को विद्यार्थियों को यह सिखाना होगा कि वे अपनी निजता की रक्षा कैसे करें, फर्जी समाचारों और भ्रामक सूचनाओं की पहचान कैसे करें, किसी भी सूचना की सत्यता की जाँच किए बिना उसे साझा न करें, साइबर उत्पीड़न का साहसपूर्वक सामना करें तथा अपने डिजिटल पदचिह्न (Digital Footprint) के दीर्घकालिक प्रभावों को समझें।

अंतत: सोशल मीडिया कंपनियों की उत्तरदायित्वपूर्ण भागीदारी भी अनिवार्य है। यदि उनके मंच बच्चों के मानसिक एवं सामाजिक स्वास्थ्य को प्रभावित करते हैं, तो उनके प्रति उत्तरदायित्व भी निश्चित होना चाहिए। उन्हें बच्चों के लिए सुरक्षित मंच (Child-safe Design) विकसित करना चाहिए, प्रभावी आयु सत्यापन प्रणाली लागू करनी चाहिए, सामग्री नियंत्रण (Content Moderation) की पारदर्शी व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए तथा उपयोगकर्ताओं को लंबे समय तक बाँधे रखने वाले व्यसनकारी एल्गोरिद्म पर नियंत्रण करना चाहिए। डिजिटल सुरक्षा केवल सरकार या अभिभावकों का दायित्व नहीं है; यह सभी सम्बन्धित पक्षों की साझा जिम्मेदारी है।

प्रतिबंध से आगे : एक समग्र दृष्टिकोण— भारत के समक्ष वास्तविक प्रश्न यह नहीं है कि बच्चों की ऑनलाइन सुरक्षा सुनिश्चित की जाए या नहीं; यह तो निर्विवाद आवश्यकता है। वास्तविक प्रश्न यह है कि यह सुरक्षा किस प्रकार दी जाए। ऑस्ट्रेलिया का अनुभव स्पष्ट करता है कि केवल कानून बना देने से समस्या का स्थायी समाधान नहीं होता। कानून सीमाएँ निर्धारित कर सकते हैं, परन्तु वे बच्चों में विवेक, आत्मानुशासन और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न नहीं कर सकते। इसके लिए परिवार, विद्यालय, समाज, सोशल मीडिया कंपनियों और शासन सभी को मिलकर कार्य करना होगा।

डिजिटल युग में बच्चों की सुरक्षा का सर्वोत्तम उपाय पूर्ण निषेध नहीं, अपितु संरक्षित स्वतंत्रता (Protected Freedom) है। ऐसी व्यवस्था जिसमें तकनीक का लाभ भी प्राप्त हो, परन्तु उसके दुष्प्रभावों से बचाव के लिए प्रभावी मार्गदर्शन, नैतिक शिक्षा, तकनीकी सुरक्षा तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का संतुलित समन्वय भी सुनिश्चित किया जाए। यही भविष्य के स्वस्थ, जागरूक और उत्तरदायी डिजिटल नागरिकों के निर्माण का आधार बन सकता है।

mdpatrika4@gmail.com

वेद का चक्षु है ज्योतिष शास्त्र

आचार्य राजबहोर मिश्र (शास्त्री जी)
ज्योतिषाचार्य विद्वान्

भारतीय ज्ञान-परम्परा विश्व की सबसे प्राचीन एवं समृद्ध बौद्धिक परम्पराओं में से एक है। इस परम्परा में वेद, उपनिषद्, दर्शन, आयुर्वेद, योग, वास्तु, संगीत तथा ज्योतिष जैसे अनेक ज्ञान-विषयों का समावेश है। इनमें ज्योतिष शास्त्र का विशेष स्थान है। इसे वेदों का नेत्र (वेदचक्षु) कहा गया है, क्योंकि जिस प्रकार नेत्र के बिना किसी वस्तु का स्पष्ट दर्शन संभव नहीं होता, उसी प्रकार ज्योतिष के बिना यज्ञ, संस्कार, पर्व-त्योहार, धार्मिक अनुष्ठान तथा काल-निर्धारण की शास्त्रीय व्यवस्था पूर्ण नहीं मानी जाती। ज्योतिष समय का विज्ञान है, जो ग्रहों, नक्षत्रों एवं आकाशीय पिंडों की गति के आधार पर काल-गणना और पंचांग-निर्माण का आधार प्रस्तुत करता है।

'ज्योतिष' शब्द संस्कृत के 'ज्योति' (प्रकाश) तथा 'इष्' (ज्ञान, अध्ययन अथवा अन्वेषण) से निर्मित माना जाता है। इसका शाब्दिक अर्थ है प्रकाशमान आकाशीय पिंडों का अध्ययन। सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र तथा अन्य खगोलीय पिंडों की गति, स्थिति, परस्पर सम्बन्ध और उनके आधार पर समय की गणना करना ही ज्योतिष का मूल विषय है।

वैदिक साहित्य में ज्योतिष का उल्लेख वेदाङ्ग के रूप में मिलता है। वेदाङ्गों का उद्देश्य वेदों के अध्ययन एवं उनके यथार्थ अनुपालन में सहायता प्रदान करना है। ज्योतिष के माध्यम से यज्ञों के उपयुक्त समय, ऋतु, तिथि, नक्षत्र, योग एवं करण का निर्धारण किया जाता था। इसीलिए

प्राचीन आचार्यों ने इसे वेदों का नेत्र कहा है।

भारत में ज्योतिष की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेद, वेदाङ्ग ज्योतिष, सूर्यसिद्धान्त, आर्यभटीय, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, पञ्चसिद्धान्तिका तथा बृहत्संहिता जैसे ग्रन्थों ने भारतीय ज्योतिष को वैज्ञानिक एवं गणितीय आधार प्रदान किया। महर्षि लगध, आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कराचार्य आदि विद्वानों ने खगोल एवं गणित के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया, जिसके आधार पर भारतीय कालगणना प्रणाली अत्यन्त विकसित हुई।

सामान्य जनमानस में ज्योतिष को प्राय: भविष्यवाणी से जोड़कर देखा जाता है, किन्तु इसका वास्तविक स्वरूप इससे कहीं अधिक व्यापक है। इसका प्रमुख उद्देश्य—

» समय एवं काल का शुद्ध निर्धारण करना।
» ग्रहों एवं नक्षत्रों की गति का अध्ययन करना।
» पंचांग का निर्माण करना।
» ऋतु, ग्रहण एवं खगोलीय घटनाओं की गणना करना।
» धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के लिए उपयुक्त समय निर्धारित करना।
» प्रकृति एवं मानव जीवन के मध्य संभावित सम्बन्धों का पारम्परिक अध्ययन करना।

इस प्रकार ज्योतिष केवल भविष्य बताने की विधा नहीं, अपितु समय-विज्ञान, खगोल-गणित तथा सांस्कृतिक जीवन का आधार भी है। भारतीय ज्योतिष को परम्परागत रूप से तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया जाता है—

1. सिद्धान्त ज्योतिष– यह ज्योतिष का गणितीय एवं खगोलीय पक्ष है। इसमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रहों एवं नक्षत्रों की गति, ग्रहण, अयन, ऋतु-परिवर्तन, समय-गणना तथा पंचांग निर्माण के लिए आवश्यक गणितीय सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक खगोल विज्ञान के साथ इसका ऐतिहासिक एवं गणनात्मक सम्बन्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

2. संहिता ज्योतिष – संहिता ज्योतिष का सम्बन्ध व्यापक सामाजिक एवं प्राकृतिक घटनाओं से है। इसमें वर्षा, मौसम, कृषि, भूकम्प, ग्रहण, राष्ट्र, वास्तु, पर्यावरण तथा जनजीवन से सम्बन्धित विविध विषयों का अध्ययन किया जाता है। प्राचीन काल में कृषि एवं सामाजिक जीवन की अनेक योजनाएँ इसी ज्ञान के आधार पर बनाई जाती थीं।

3. होरा (फलित) ज्योतिष – होरा अथवा फलित ज्योतिष में जन्मकाल के आधार पर निर्मित जन्मकुण्डली, ग्रहों की स्थिति तथा दशा आदि का पारम्परिक विश्लेषण किया जाता है। इसके माध्यम से व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों जैसे शिक्षा, व्यवसाय, विवाह, स्वास्थ्य एवं अन्य विषयों का पारम्परिक आकलन किया जाता है।

भारतीय संस्कृति में ज्योतिष केवल एक शास्त्र नहीं, अपितु जीवन-पद्धति का अभिन्न अंग रहा है। पंचांग निर्माण, पर्व-त्योहारों की तिथियों का निर्धारण, ग्रहण, संक्रान्ति, ऋतु-परिवर्तन तथा धार्मिक अनुष्ठानों के शुभ मुहूर्त का निर्णय इसी के आधार पर किया जाता है।

प्राचीन काल में यज्ञ, उपनयन, विवाह, गृहप्रवेश, नामकरण, अन्नप्राशन तथा अन्य संस्कारों में ज्योतिषीय समय-निर्धारण को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। कृषि कार्य, यात्रा, नगर-निर्माण तथा अनेक सामाजिक आयोजनों में भी शुभ समय के निर्धारण की परम्परा विकसित हुई। आज भी भारतीय समाज का एक बड़ा वर्ग इन परम्पराओं का पालन करता है।

आधुनिक युग में ज्योतिष के विभिन्न पक्षों का अलग-अलग दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। ग्रहों की स्थिति, ग्रहण, पंचांग-निर्माण, समय-गणना एवं खगोलीय गणनाओं का आधार गणित एवं खगोल विज्ञान है, जिन्हें आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है और अधिक परिशुद्ध उपकरणों के माध्यम से विकसित करता है।

दूसरी ओर, फलित ज्योतिष अर्थात् जन्मकुण्डली अथवा ग्रहों के आधार पर व्यक्तिगत भविष्यवाणी से सम्बन्धित अनेक दावों को आधुनिक वैज्ञानिक समुदाय सामान्यत: वैज्ञानिक रूप से प्रमाणित नहीं मानता। इस कारण समकालीन शैक्षिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण में ज्योतिष के गणितीय एवं खगोलीय पक्ष तथा फलित पक्ष के बीच स्पष्ट भेद किया जाता है। इसलिए इसके प्रत्येक आयाम का मूल्यांकन उसके उपलब्ध प्रमाणों, तर्कों तथा अनुसंधान के आधार पर किया जाना आवश्यक है।

ज्योतिष शास्त्र भारतीय ज्ञान-विज्ञान की अमूल्य धरोहर है। यह केवल ग्रह-नक्षत्रों का अध्ययन करने वाला विषय नहीं, अपितु काल, समय, प्रकृति और मानव जीवन के परस्पर सम्बन्धों को समझने का एक प्राचीन प्रयास है। भारतीय संस्कृति, पंचांग-निर्माण, धार्मिक परम्पराओं, उत्सवों तथा कालगणना की व्यवस्था में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। साथ ही, आधुनिक युग में इसके विविध पक्षों का अध्ययन विवेक, तर्क, अनुसंधान और प्रमाण के आधार पर करना भी आवश्यक है। इसी संतुलित दृष्टिकोण से ज्योतिष शास्त्र की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, गणितीय तथा दार्शनिक महत्ता को समुचित रूप से समझा जा सकता है।

mdpatrika4@gmail.com

रत्नों में छिपा है रोगमुक्ति का रहस्य

डॉ. सरित् शर्मा
ज्योतिषाचार्य एवं संस्कृत शिक्षक

प्राचीन काल से ही रत्नों के प्रति सम्पूर्ण विश्व में विशेष आकर्षण रहा है। रत्न केवल आभूषणों की शोभा बढ़ाने वाले बहुमूल्य पदार्थ ही नहीं हैं, अपितु भारतीय परम्परा में इन्हें आध्यात्मिक, ज्योतिषीय तथा औषधीय दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। आयुर्वेद तथा ज्योतिष दोनों ही शास्त्रों में रत्नों के गुणों एवं उनके प्रभाव का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। आयुर्वेद में रत्नों के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है— "रत्नानि मनोज्ञानि ग्रहदोषहराणि च।" अर्थात् रत्न मन को प्रसन्न एवं आकर्षित करने वाले होने के साथ-साथ ग्रहजन्य दोषों के शमन में भी सहायक माने गए हैं। भारतीय मनीषा के अनुसार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा मानव शरीर पंचमहाभूतों एवं विभिन्न प्राकृतिक तत्त्वों से निर्मित हैं। रत्न भी इन्हीं प्राकृतिक तत्त्वों एवं खनिजों के विशिष्ट संयोजन से उत्पन्न होते हैं। इसी कारण यह माना गया कि रत्न अपनी सूक्ष्म ऊर्जा एवं प्राकृतिक गुणों के माध्यम से शरीर में विद्यमान तत्त्वों के संतुलन को प्रभावित कर सकते हैं।

आयुर्वेद में अनेक रत्नों की भस्म एवं पिष्टी बनाने की विधियाँ तथा विभिन्न रोगों में उनके चिकित्सीय प्रयोग का उल्लेख मिलता है। दूसरी ओर ज्योतिषशास्त्र के अनुसार प्रत्येक ग्रह का एक प्रतिनिधि रत्न होता है। मान्यता है कि उचित विधि से धारण किया गया रत्न अपने अधिष्ठाता ग्रह की अनुकूल ऊर्जा को ग्रहण कर धारणकर्ता के शरीर एवं मन पर प्रभाव डालता है तथा ग्रहजन्य अनिष्टों के शमन में सहायक होता है। यह उल्लेखनीय है कि यह मान्यता भारतीय ज्योतिष एवं पारम्परिक विश्वासों पर आधारित है; आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने अधिकांश दावों की निर्णायक पुष्टि नहीं की है। अत: किसी भी रोग की स्थिति में चिकित्सकीय परामर्श एवं उपचार को प्राथमिकता देना आवश्यक है।

माणिक्य (Ruby) – संस्कृत में इसे माणिक्य, हिन्दी में मानिक तथा अंग्रेज़ी में Ruby कहा जाता है। इसका अधिष्ठाता ग्रह सूर्य माना गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से माणिक्य कोरन्डम (Corundum) वर्ग का रत्न है, जिसका मुख्य संघटन एल्यूमिनियम ऑक्साइड (Al_2O_3) होता है तथा लाल रंग क्रोमियम की उपस्थिति से उत्पन्न होता है।

ज्योतिषीय मान्यता के अनुसार माणिक्य धारण करने से सूर्य के अशुभ प्रभावों का शमन होता है। इसे हृदय सम्बन्धी विकार, पित्तजन्य नेत्ररोग, बवासीर, ज्वर, क्षयरोग, रक्ताल्पता (पाण्डु), रोग-प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि तथा आत्मबल में सहायक माना गया है।

मोती (Pearl) – संस्कृत में मौक्तिक अथवा मुक्ता, हिन्दी में मोती तथा अंग्रेज़ी में Pearl कहा जाता है। इसका अधिष्ठाता ग्रह चन्द्रमा है। पारम्परिक मान्यता के अनुसार शुद्ध मोती धारण करने से मानसिक शान्ति, भावनात्मक संतुलन तथा शारीरिक सौन्दर्य में वृद्धि होती है। इसे मानसिक तनाव, अवसाद, नेत्ररोग, सर्दी-जुकाम, मिर्गी, दन्तरोग, पायरिया, हृदय रोग, खाँसी, मूत्रविकार एवं कफजन्य रोगों में सहायक माना गया है। पारम्परिक मतानुसार यह शरीर में कैल्शियम की पूर्ति में भी सहायक माना जाता है। स्त्रियों में मासिक धर्म सम्बन्धी असुविधाओं की स्थिति में भी मोती धारण करने तथा चन्द्र बीजमन्त्र के जप का उल्लेख ज्योतिषीय ग्रन्थों में मिलता है।

मूंगा (Red Coral) – संस्कृत में इसे अङ्गारकमणि तथा अंग्रेज़ी में Red Coral कहा जाता है। इसका अधिष्ठाता ग्रह मंगल है। श्रेष्ठ मूंगा लाल अथवा सिन्दूरी वर्ण का, चिकना एवं चमकदार माना जाता है। ज्योतिषीय मान्यता के अनुसार इसे धारण करने से साहस, पराक्रम एवं मंगल ग्रह की अनुकूलता प्राप्त होती है। इसे रक्ताल्पता, रक्तचाप, हृदय रोग, नेत्ररोग, चर्मरोग, पीलिया तथा रोग-प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि हेतु सहायक माना गया है।

पन्ना (Emerald) – संस्कृत में मरकतमणि तथा अंग्रेज़ी में Emerald कहलाता है। यह बुध ग्रह का प्रमुख रत्न है। पारम्परिक मतानुसार पन्ना धारण करने से बुद्धि, वाक्शक्ति एवं स्मरणशक्ति में वृद्धि होती है। इसे पथरी, बवासीर, दमा, गुर्दे के विकार, त्वचा रोग, स्नायु सम्बन्धी रोग, मानसिक अस्थिरता, बाल झड़ना तथा पीलिया आदि में सहायक माना गया है।

पुखराज (Yellow Sapphire) – पुखराज बृहस्पति ग्रह का मुख्य रत्न है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह भी कोरन्डम वर्ग का रत्न है, जिसमें विभिन्न सूक्ष्म तत्त्वों के कारण पीतवर्ण प्राप्त होता है। ज्योतिषीय मान्यता के अनुसार पुखराज धारण करने से बल, बुद्धि, स्वास्थ्य एवं आयु में वृद्धि होती है। इसे यकृत (लिवर) सम्बन्धी विकार, मोटापा, बवासीर, मानसिक चिन्ता, भ्रम तथा दुर्बलता में लाभकारी माना गया है।

हीरा (Diamond) – संस्कृत में इसे वज्रमणि तथा अंग्रेज़ी में Diamond कहा जाता है। परम्परागत मान्यता के अनुसार यह आयुवर्धक, नेत्रज्योतिवर्धक, मेधावर्धक तथा त्रिदोषशामक माना गया है। इसके अतिरिक्त स्वप्नदोष, प्रमेह तथा नपुंसकता जैसे विकारों में भी इसे सहायक माना गया है।

नीलम (Blue Sapphire) – नीलम शनि ग्रह का मुख्य रत्न है। ज्योतिषशास्त्र में इसे अत्यन्त प्रभावशाली रत्न माना गया है। पारम्परिक मान्यता के अनुसार यह पक्षाघात, अपस्मार, वातजन्य विकार, दमा, कृमिरोग, गठिया तथा दीर्घकालिक रोगों में सहायक माना जाता है। चूँकि नीलम का प्रभाव तीव्र माना गया है, अत: इसे धारण करने से पूर्व विशेषज्ञ ज्योतिषी का परामर्श आवश्यक माना जाता है।

गोमेद (Hessonite) – गोमेद राहु ग्रह का प्रतिनिधि रत्न है। ज्योतिषीय मान्यताओं के अनुसार यह मानसिक तनाव, निरर्थक भय, पथरी, मिर्गी, पेट के कृमि, अल्सर, सूखी खाँसी, मन्दाग्नि तथा कुछ प्रकार की गाँठों (ट्यूमर) के प्रभावों के शमन में सहायक माना गया है।

लहसुनिया (Cat's Eye) – लहसुनिया, जिसे वैदूर्य भी कहा जाता है, केतु ग्रह का प्रमुख रत्न है। पारम्परिक मान्यता के अनुसार यह चर्मरोगों, आत्मबल की वृद्धि तथा नकारात्मक प्रभावों एवं शत्रुभय के निवारण में सहायक माना जाता है।

भारतीय ज्योतिष एवं आयुर्वेद में रत्नों का महत्त्व केवल सौन्दर्य-वर्धन तक सीमित नहीं है, अपितु उन्हें स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन तथा आध्यात्मिक उन्नति का भी साधन माना गया है। तथापि रत्नधारण का निर्णय सदैव जन्मकुण्डली में ग्रहों की स्थिति, दशा, राशि एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों के सम्यक् विचार के पश्चात् ही किया जाना चाहिए। अनुचित रत्न धारण करने से अपेक्षित लाभ न मिलने अथवा विपरीत प्रभाव की सम्भावना भी मानी गई है। अत: किसी भी रत्न को धारण करने से पूर्व योग्य एवं अनुभवी ज्योतिषाचार्य से परामर्श लेना उचित है। ध्यान रहे कि रत्न पारम्परिक एवं पूरक साधन माने जाते हैं; किसी भी रोग की अवस्था में आधुनिक चिकित्सकीय परामर्श एवं उपचार का स्थान उनका विकल्प नहीं हो सकता।

mdpatrika4@gmail.com

मांगलिक योग

आचार्या दीप्ति चतुर्वेदी
ज्योतिष विदुषी, कुण्डली विशेषज्ञ

> "विवाह केवल दो व्यक्तियों का मिलन नहीं, दो जीवन-यात्राओं का समन्वय है; अतः उसका निर्णय भी समग्र दृष्टि से होना चाहिए, किसी एक योग के आधार पर नहीं।"

भारतीय वैदिक ज्योतिष में विवाह-विचार अत्यंत गंभीर और सूक्ष्म विषय माना गया है। जन्मकुंडली में सप्तम भाव, सप्तमेश, शुक्र, गुरु, चन्द्र, नवांश, दशाएँ तथा अनेक ग्रहयोग मिलकर वैवाहिक जीवन का स्वरूप निर्धारित करते हैं। किंतु विडम्बना यह है कि आज विवाह के संदर्भ में सबसे अधिक चर्चा केवल मांगलिक दोष की होती है।समाज में यह धारणा इतनी गहराई से बैठ चुकी है कि यदि किसी युवक या युवती को "मांगलिक" बता दिया जाए तो बिना किसी अन्य परीक्षण के विवाह-प्रस्ताव तक अस्वीकार कर दिए जाते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग यह कहकर निश्चिंत हो जाते हैं कि "अट्ठाईस वर्ष के बाद मंगल दोष समाप्त हो जाता है।" दोनों ही स्थितियाँ शास्त्रीय परीक्षण की अपेक्षा रखती हैं।

प्रश्न यह है कि क्या वास्तव में मांगलिक योग इतना भयावह है, जैसा सामान्यतः समझा जाता है? क्या यह जीवनभर वैवाहिक सुख को नष्ट कर देता है? अथवा इसके सम्बन्ध में समाज में अनेक भ्रांतियाँ प्रचलित हैं? आइए, इस विषय को शास्त्र के आलोक में समझने का प्रयास करें।

मंगल ग्रह का वास्तविक स्वरूप

मंगल को केवल कलह का ग्रह मान लेना स्वयं मंगल के स्वरूप का अपमान है। वैदिक ज्योतिष में मंगल पराक्रम, ऊर्जा, साहस, नेतृत्व, अनुशासन, आत्मबल, भूमि, तकनीकी कौशल तथा निर्णय-क्षमता का कारक ग्रह है।

बृहत्पाराशर होरा शास्त्र में ग्रहों के शुभ-अशुभ फल उनके बल, स्थान, दृष्टि और युति के अनुसार बताए गए हैं। अर्थात् मंगल अपने स्वभाव से न तो सदैव अशुभ है और न ही सदैव शुभ। उसका फल परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यही मंगल यदि दाम्पत्य से जुड़े भावों को विशेष प्रकार से प्रभावित करे तो उसे कुज दोष अथवा मांगलिक योग कहा जाता है।

कब बनता है मांगलिक योग?

परंपरागत मतानुसार यदि जन्मकुंडली में मंगल प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, अष्टम अथवा द्वादश भाव में स्थित हो तो मांगलिक योग माना जाता है। कुछ आचार्य द्वितीय भाव को भी इसमें सम्मिलित करते हैं। किन्तु यह केवल एक प्रारम्भिक संकेत है। यह अंतिम निर्णय नहीं है। यहीं से एक दक्ष ज्योतिषी का वास्तविक कार्य आरम्भ होता है।

केवल मंगल देखकर निर्णय अशास्त्रीय है?

आज सबसे अधिक त्रुटि इसी स्तर पर होती है। अनेक लोग केवल सॉफ्टवेयर की एक पंक्ति या कुंडली के एक संकेत को देखकर जातक को "मांगलिक" घोषित कर देते हैं, जबकि शास्त्र इससे कहीं अधिक व्यापक परीक्षण की अपेक्षा करता है। निर्णय करते समय निम्न बिंदुओं का सम्यक् विचार आवश्यक है—

» मंगल का ग्रहबल (षड्बल आदि)
» मंगल किस राशि में स्थित है?
» किन ग्रहों की दृष्टि प्राप्त है?
» सप्तम भाव और सप्तमेश की स्थिति
» शुक्र तथा गुरु का बल
» चन्द्र लग्न से पुनः परीक्षण

» नवांश कुंडली
» दशा एवं अंतरदशा
» अन्य परिहार योग

यदि इन सबका परीक्षण किए बिना केवल एक भाव देखकर निर्णय दिया जाए तो वह शास्त्रीय नहीं, अपितु अधूरा निष्कर्ष होगा।

क्या 28 वर्ष के बाद मांगलिक दोष समाप्त हो जाता है?

यह आधुनिक समय का सबसे चर्चित प्रश्न है। शास्त्रीय ग्रंथों में ऐसा कोई सार्वभौमिक सिद्धांत उपलब्ध नहीं होता कि किसी निश्चित आयु विशेषत: 28 वर्ष के बाद मांगलिक दोष स्वत: समाप्त हो जाता है।

जन्मकुंडली जन्मकालीन ग्रहस्थितियों का स्थायी मानचित्र है। अत: ग्रहयोग समाप्त नहीं होते; उनके फल की तीव्रता समय, दशा, गोचर तथा अन्य शुभ योगों के कारण परिवर्तित हो सकती है। यही कारण है कि कुछ व्यक्तियों को युवावस्था में अधिक संघर्ष दिखाई देता है और बाद में वैवाहिक जीवन संतुलित हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि योग समाप्त हो गया; अपितु उसके प्रतिकूल प्रभावों का शमन हुआ।

कम हो जाता है मंगल का प्रभाव?

ज्योतिष में अनेक परिहार योग बताए गए हैं जिनसे मांगलिक योग का प्रभाव अत्यंत कम हो सकता है। उदाहरणत:

* मंगल स्वराशि (मेष या वृश्चिक) में हो।
* मंगल उच्च राशि मकर में स्थित हो।
* बृहस्पति की पूर्ण शुभ दृष्टि प्राप्त हो।
* सप्तम भाव एवं सप्तमेश सुदृढ़ हों।
* नवांश कुंडली में वैवाहिक योग बलवान हों।
* शुभ ग्रहों का प्रभाव अधिक हो।

ऐसी परिस्थितियों में केवल "मांगलिक" शब्द सुनकर भयभीत हो जाना उचित नहीं।

क्या वास्तव में दाम्पत्य जीवन प्रभावित होता है?

यदि मांगलिक योग अत्यंत प्रबल हो और अन्य अशुभ ग्रहयोग भी उसका समर्थन करें, तब विवाह में विलम्ब, दाम्पत्य जीवन में मतभेद, आवेश, क्रोध अथवा मानसिक दूरी जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि लाखों सफल दाम्पत्य जीवन ऐसे हैं जहाँ पति अथवा पत्नी मांगलिक रहे हैं। इसका कारण यही है कि सम्पूर्ण कुंडली अनुकूल थी। इसलिए केवल मंगल के आधार पर वैधव्य, तलाक या जीवनसाथी की मृत्यु जैसी भयावह भविष्यवाणियाँ करना शास्त्रसम्मत नहीं माना जा सकता।

क्या दो मांगलिक व्यक्तियों का विवाह किया जा सकता है?

अक्सर पूछा जाता है कि क्या दो मांगलिकों का विवाह शुभ होता है? उत्तर है हाँ, यदि दोनों की कुंडलियों में दोष का स्तर समान हो तथा अन्य वैवाहिक योग अनुकूल हों। विवाह का निर्णय सदैव गुणमिलान, ग्रहमैत्री, सप्तम भाव, नवांश, दशा, आयु एवं संतान योग सहित समग्र परीक्षण के पश्चात् ही होना चाहिए।

शास्त्रसम्मत परिहार

भारतीय ज्योतिष केवल दोष नहीं बताता, उसका समाधान भी प्रस्तुत करता है। मंगल के प्रतिकूल प्रभावों की शांति के लिए शास्त्रों में मंगलवार व्रत, श्रीहनुमानजी की आराधना, मंगल बीज मंत्र का जप, नवग्रह शांति, योग्य आचार्य के निर्देशन में आवश्यक परिहार तथा पात्र व्यक्ति को लाल मसूर, ताम्र एवं लाल वस्त्र के दान का विधान मिलता है। परंतु स्मरण रहे उपाय सदैव व्यक्तिगत जन्मकुंडली के विश्लेषण के बाद ही किए जाने चाहिए।

शास्त्रीय दृष्टि

महर्षि पराशर का सिद्धांत अत्यंत स्पष्ट है "ग्रहों का फल उनके बल, स्थान, दृष्टि, युति एवं दशा के अनुसार परिवर्तित होता है।" इसी प्रकार फलदीपिका, जातक पारिजात, बृहत्जातक तथा अन्य प्रामाणिक ग्रंथ भी समग्र कुंडली के अध्ययन पर बल देते हैं। कहीं भी केवल एक योग के आधार पर जीवन का अंतिम निर्णय करने का निर्देश नहीं मिलता। मांगलिक योग न तो अभिशाप है और न ही विवाह-विघटन का निश्चित संकेत। यह जन्मकुंडली की एक विशिष्ट ग्रहस्थिति है, जिसका वास्तविक प्रभाव सम्पूर्ण कुंडली के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

mdpatrika4@gmail.com

तरन्ति येन तत् तीर्थम्

डॉ. आलोक कुमार पाण्डेय
सुधी आचार्य, व्याकरण विभाग

भारतीय परम्परा में तीर्थशब्द केवल विशिष्ट भौगोलिक परिधि, पार्थिव स्थापत्य अथवा स्थूल जलराशि का वाचक नहीं है, अपितु सनातन धर्म के साधना तथा आध्यात्मिक उन्नति, चित्तवृत्तियों के उर्ध्वगमन, आत्मगवेषणा के दिव्यसम्प्रत्यय का अधिष्ठान है। अत एव भारतीय मनीषियों ने इन्ही दिव्य अधिष्ठानों मे समधिष्ठित होकर अपनी आध्यात्मिक ज्ञान को पुष्पित, पल्लवित एवं संवर्धित कर मानव समाज को उस आध्यात्मिकज्ञानपीयूष से अभिसिञ्चित कर दैहिक दैविक तथा भौतिक तापों से आपूरित संसार चक्र से विमुक्त होने के लिए सत्प्रेरित किया है। अत: अन्त:करण में स्वाभाविकी विचिकित्सा होती है ऐसे परमपवित्र अधिष्ठान विशेष को तीर्थ क्यों कहा जाता है। तीर्थशब्द का अर्थ क्या है ? तथा तीर्थ का स्वरुप क्या है? इन प्रश्नों का सदुत्तर शाब्दिक दृष्टि से ठीक-ठीक हो सकता है। वह इस प्रकार है। तृ-प्लवनतरणयो: (भ्वा० पर०सक० सेट्) धातु से पातृतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्[1] इस उणादिसूत्र से थक् प्रत्यय करने पर तीर्थ शब्द की निष्पत्ति होती है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है "तरति पापादिकं यस्मात् तत् तीर्थम् अथवा तीर्यते अनेन, तरन्ति येन वा तीर्थम्"।अर्थात् जिसके आश्रय से पापों अथवा अज्ञानों से पार किया जाता है अथवा जिसके माध्यम से अगाध संसार सागर को पार करता है उसे तीर्थ कहते है। अमरकोशकार ने तीर्थ शब्द का शब्दार्थ करते हुए लिखा "तीर्थं शास्त्राध्वरर्षिजुष्टजलेषु" अर्थात् शास्त्र (ज्ञान) अध्वर (यज्ञ) ऋषि, तथा उनके द्वारा निषेवित जल इन चारो को तीर्थ कहते। भगवत्पाद श्रीमदाद्य शङ्कराचार्य ने तीर्थ के विषय में कहा तीर्थ अन्त: करण के मल विक्षेप तथा आवरण को भङ्ग करने सर्वप्रधान निमित्तकारण है। अत: प्रत्येक मानव को अपनी अध्यात्मिक उन्नति के सम्वर्धन हेतु तीर्थयात्रा अवश्य करनी चाहिए। तीर्थयात्रा करते समय अन्त:करण में प्रश्न समुदित होता है कि तीर्थयात्रा करने के शास्त्रों कुछ में नियम वर्णित है या नहीं। इस प्रश्न का समाधान हेतु भारतीय धर्मशास्त्र तथा पुराणों में वह नियम बहुत विस्तृत रुप से वर्णित है। परन्तु सभी पुराण तथा धर्मशास्त्र के वचनों का संग्रह वीरमित्रोदय ग्रन्थ के तीर्थप्रकाश भाग में तीर्थयात्रा करने के बहुत ही विस्तृत रुप से नियम बताए गये है। इस निबन्ध में मै उन नियमों में से एक नियम को समुद्धृत कर रहा हूँ जो बहुत ही आज के परीप्रेक्ष्य में उपादेय है। वीरमित्रोदयकार न तीर्थयात्रानियमप्रकरण में भविष्यपुराण का वचन समुद्धृत करते हुए कहा है कि –

"तीर्थं गच्छन् त्यजेत प्राज्ञ: परान्नं परभोजनम्।
जितेन्द्रीयो जितक्रोधो ब्रह्मचारी भवेच्छुचि: "[2]।।

इस श्लोक की व्यख्या करते हुए वीरमित्रोदय कार ने कहा "परान्नं परेभ्यो लब्धं स्वकमपि। परभोजनं परपाकेन परस्वामिकभोजनम्। स्वपत्नीपक्वभिन्नमेव निषिद्धमिति नार्थ: मातृभ्रातृपक्वेऽविगानात्"। इसका तात्पर्य यह है कि अपना होते हुए भी यदि दुसरे से प्राप्त अन्न तथा अपने परिवार जनों से भिन्न यदि पकाया हुआ अन्न हो तो ग्रहण नही करना चाहिए, इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर ब्रह्मचर्य पूर्वक पवित्रता से तीर्थयात्रा करना चाहिए। यदि यह नियम प्रत्येक व्यक्ति तीर्थ क्षेत्र में अपना ले तो तीर्थक्षेत्र में जो बडे – बडे होटल खुले है जिसमें तीर्थोचित कार्य का विलोप रहता है साथ हि साथ तीर्थ का तीर्थत्व नष्ट हो रहा है, इस पर विराम लग सकता है। परान्न ग्रहण करने में क्या दोष है इस पर पद्मपुराण का वचन समुद्धृत करते हुए वीरमित्रोदयकार ने कहा –

नरकं दारुणं श्रुत्वा परान्ने तु रतिं त्यजेत्।
यो यस्यान्नमिहाश्नाति स तस्याश्नाति किल्विषम् "[3]।।

इसका तात्पर्य यह है कि परान्न को ग्रहण करता है वह

---

1 उणादिसूत्र संख्या – 2/7

2 वीरमित्रोदय तीर्थप्रकाश

3 वीरमित्रोदय तीर्थप्रकाश

उसका अन्न नहीं खाता अपितु उसके पाप को खाता है। अतः विशेषकर तीर्थ में परान्न ग्रहण नहीं करना चाहिए।

तीर्थस्वरुप

अब प्रश्न होता है कि तीर्थ के स्वरुप अथवा प्रकार सामान्यतः कितने है। शास्त्रों में तो बहुत से भेद, प्रकार वर्णित है परन्तु उनमें से एक प्रकार का निर्वचन कर रहा हूँ जो इस प्रकार है। वीरमित्रोदयकारब्रह्मपुराण का वचन सन्दर्भित करते हुए निम्नलिखित बताया है।

नारद उवाच—

कियन्ति तानि तीर्थानि किं फलानि सुरेश्वर।
सर्वेषामेव तीर्थानां सर्वदा किं विशिष्यते।।

ब्रह्मोवाच—

चतुर्विधानि तीर्थानि स्वर्गे मर्त्ये रसातले।
दैवानि मुनिशार्दुल आसुराण्यार्षकाणि च।।

मानुषाणि च लोकेषु विख्यातानि सुरादिभिः।
ब्रह्मविष्णुशिवैर्देवैर्निर्मितं दैवमुच्यते।।
त्रिभ्यो यदेकं जायेत तस्मान्नातः परं विदुः"[4]। इति।

उक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि तीर्थ चार प्रकार के तीनों लोकों (स्वर्गलोक, मर्त्यलोक अर्थात् पृथिवीलोक तथा रसातल अर्थात् पाताललोक) में प्रसिद्ध है।

1. **दैवतीर्थ –** इस तीर्थ का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि देवताओं के द्वारा निर्मित तीर्थ को दैव तीर्थ कहते हैं। यथा – वाराणसी, प्रभास, पुष्कर इत्यादि।
2. **आसुरी तीर्थ-** आसुराणि, गयासुरादिनिर्मितानि गयादीनि। अर्थात् गयासुर इत्यादि आसुरों से निर्मित तीर्थ को आसुरी तीर्थ कहते है। यथा – बिहार प्रदेश के मगध प्रमण्डल में गया जी जहां पर प्रत्येक हिन्दु अपने पूर्वजों को मोक्ष प्राप्ति के लिए पिण्डदान करते हैं।
3. **आर्षतीर्थ –** ऋषिभिः प्रतिष्ठानि आर्षाणि। अर्थात् ऋषियों के द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थ को आर्ष तीर्थ कहते है। यथा – बक्सर इत्यादि जहां पर विश्वामित्र ने यज्ञ किया था जिस यज्ञ की रक्षा हेतु भगवान् राम तथा भ्राता लक्ष्मण को अयोध्या जी से लाने गये थे।
4. **मानुषतीर्थ-** मानुषाणि, सोमसवितृवंशप्रसूतराजभिः प्रतिष्ठानि। अर्थात् चन्द्रवंश तथा सूर्यवंश के राजाओं द्वारा प्रतिष्ठापित तीर्थ। यहां यह उपलक्षण समझना चाहिए अन्य राजवंशों के राजाओं द्वारा प्रतिष्ठापित भी तीर्थ ही कहा जायेगा। यथा – चन्द्र वंश द्वारा प्रतिष्ठापित मथुरा, वृन्दावन तथा सूर्यवंश के राजा मनुमहाराज द्वारा प्रतिष्ठापित अयोध्या नगरी कुरुक्षेत्र इत्यादि तीर्थ है।

उक्त तीर्थों के अतिरिक्त शास्त्रों में मानस तीर्थ का उल्लेख प्राप्त होता है वीरमित्रोदयकार ने बहुत विस्तृत रुप से अपने तीर्थप्रकाश ग्रन्थ में वर्णित किया है। विशेष रुप से जिज्ञासु जन उस ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते है। अब प्रश्न होता है कि उन तीर्थों के अधिकारी कौन है ? तीर्थयात्राधिकारी प्रकरण में विरमित्रोदयकार ने इस प्रकार बताया है। यद्यपि बहुत विस्तृत है फिर भी कुछ नियमों को प्रस्तुत कर रहा हूँ। वीरमित्रोदयकार सभी शास्त्रों को आलोडन कर कहा की तीर्थयात्रा में तथा निवास करने का अधिकार सभी वर्गों का है। "ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां चतुर्वर्णां वर्णानामधिकारः। तत्र महाभारते—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
न वियोनिं व्रजन्त्येते तीर्थे स्नाता महात्मनः।।
इति वचनात् तीर्थयात्रायां ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थयतीनां चतुर्णामप्याश्रमाणामधिकारः।।

इस ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि तीर्थयात्रा में सभी चारों वर्णों का तथा ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, सन्यासाश्रम के लोगों का पूर्ण अधिकार है।तीर्थयात्रा करने का फल क्या है? इस पर स्मृतिसारसमुच्चय कहा गया है –

कामं क्रोधं च लोभं च य जित्वा तीर्थमावसेत्।
न तेन किञ्चिन्न प्राप्तं तीर्थाभिगमनाद्भवेत्।।
तीर्थानि तु यथोक्तेन विधिना सञ्चरन्ति ये।
सर्वद्वन्द्वसहा धीरास्ते नराः स्वर्गामिनः।।

इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि तीर्थ में काम, क्रोध और लोभ पर नियन्त्रण रख कर तीर्थयात्रा तथा तीर्थ में निवास करना चाहिए। तीर्थ में वास करनें का फल यह होता है कि तीर्थ के पुण्य प्रभाव से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। महाभारत में तीर्थयत्रा के फल का वर्णन करते हुए वेदव्यास भगवान ने कहा है-

अज्ञानेनापि यस्येह तीर्थयात्रादिकं भवेत्।
सर्वकामसमृद्धः स स्वर्गलोके महीयते।।
स्थानं च लभते नित्यं धनधान्यसमाकुलम्।
ऐश्वर्यज्ञानसम्पन्नः सदा भवति भोगवान्।।
तारिताः पितरस्तेन नरकात् प्रपितामहाः।।

उक्त श्लोक कुछ संशयात्मक पदों कीव्याख्या करते हुए वीरमित्रोदय कार नें कहा "अज्ञानेन तीर्थज्ञानं विना। तीर्थयात्रादिकमित्यादिपदात् स्नानदानादिपरिग्रहः। एतद्बलात् फलकामना विनापि काम्यफलनिर्वाहो गम्यते। कामनाकृतं त्वधिकफलं भवति अकामकृतात् कामकृते

4 वीरमित्रोदय तीर्थप्रकाश

पुण्येऽप्याधिक्यस्मरणात्”[5]। इस ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि तीर्थ ज्ञान के विना अर्थात् तीर्थ माहात्म्य ज्ञान के विना भी यदि तीर्थ में स्नान दानादि किया जाता है तो फलकामना के विना भी फल की प्राप्ति होती है कामनापूर्वक अर्थात् संकल्पपूर्वक तीर्थ में स्नान दानादि किया जाता है तो अधिक फल की प्राप्ती होती है। साथ ही साथ तीर्थस्नानदानादि के कर्ता के पितर नरक से मुक्त हो जाता है। अत: सभी आबालवृद्ध नर नारी को तीर्थ यात्रा तीर्थ में निवास अवश्य करनी चाहिए।

वर्तमान समय में तीर्थों को आधुनिक सुख सुविधायों से सम्वर्धन तथा सुसज्जित किया जा रहा जिससे उस तीर्थ की प्राचीनता तथा प्राकृतिकवातावरण विनष्ट हो रहे जिसके कारण वहाँ पर केवल पर्यटन की दृष्टि से लोगों आना जाना हो रहा न की तीर्थ यात्रा की दृष्टि से जो समिचिन नहीं है।जानें वाले पर्यटकों की भावना तीर्थ दर्शन की दृष्टि नहीं रहता केवल तीर्थ में जाकर विषयभोग की दृष्टी रहती है अत एव अतएव तीर्थ में जाने पर भी अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती है। अत: शास्त्रोक्त भावनाओं को ध्यान में रखते हुए ही तीर्थ की प्राचीनता के साथ तीर्थ का विकास तथा सम्वर्धन होना चाहिए। शास्त्राकारों ने भवना को प्रधानता देते हुए कहा है।

5 वीरमित्रोदय तीर्थप्रकाश

“मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी”।।

इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मन्त्र, तीर्थ, द्विज, देव, चिकित्सक गुरु इन सभी में जैसी भावना होती है वैसे ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। अत: तीर्थस्थलों को विषय भोग का स्थल में परिणत न किया जाय अपितु भोग से विरत होने का स्थल बनाया जाय।

तीर्थ सनातन संस्कृति का अनूप तथा कालजयी विज्ञान है जो भौतिकता से सन्तप्त मरुभूमि से निकालकर आध्यात्मिकता के मन्दाकनी में निमज्जित करने का सुअवसर प्रदान करता है। तीर्थ केवल धार्मिक अनुष्ठान का केन्द्र नही अपितु आत्मचिन्तन, मानसीक शान्ति, आसुरत्व से दैवत्व प्राप्ति का सिद्धस्थल होता है। तीर्थ भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन का अभिन्न अंग है। तीर्थ पवित्र स्थल के साथ आत्मशुद्धि, ईश्वर भक्ति तथा लोकमङ्गल की प्रेरणा का सशक्त माध्यम है। उस पवित्र स्थल पर जाने से मनुष्य आध्यात्मिक चेतना को जागृत कर सत्य, करुणा, संयम और सेवा तथा समन्वय जैसे मानवीय मूल्यों को पुष्ट करता है। अत: हम सभी को तीर्थों के प्राकृतिक वातावरण को संरक्षित तथा तीर्थों की पवित्रता को बनाए रखने के दायित्व का निर्वहन करना चाहिए। इति शम्।।

mdpatrika4@gmail.com

राजा शान्तनु और माँ गंगा

श्रीमती सरोज गुलाटी
लेखिका, संस्कृत विदुषी

बहुत प्राचीन काल में पौरव वंश की राजधानी हस्तिनापुर पर एक महान, धर्मनिष्ठ और यशस्वी राजा राज्य करते थे। उनका नाम राजा शान्तनु था। वे सत्य के उपासक, धर्म के ज्ञाता, न्यायप्रिय तथा प्रजा के सुख-दु:ख में समान रूप से सहभागी रहने वाले आदर्श शासक थे। उनकी कीर्ति चारों दिशाओं में फैली हुई थी।

शान्तनुर्नाम राजर्षि: पौरवाणां महायशा:।
धर्मज्ञ: सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रत:॥

एक दिन राजा शान्तनु शिकार और विहार के उद्देश्य से गंगा नदी के पवित्र तट पर पहुँचे। सायंकाल की सुनहरी आभा गंगा की लहरों पर झिलमिला रही थी। मंद-मंद बहती शीतल समीर वातावरण को और भी मनोहर बना रही थी। उसी समय उनकी दृष्टि एक अनुपम सुन्दरी पर पड़ी। उसका तेज अलौकिक था, मुखमण्डल चन्द्रमा के समान शान्त और आभामय था, तथा उसके व्यक्तित्व से दिव्यता झलक रही थी। वह कोई साधारण स्त्री नहीं, स्वयं देवी गंगा थीं।

राजा शान्तनु उनके अद्भुत सौन्दर्य, शालीनता और दिव्य तेज से इतने प्रभावित हुए कि उनके मन में उन्हें अपनी अर्धांगिनी बनाने की प्रबल इच्छा जाग उठी।

स गङ्गां रूपसम्पन्नां ददर्श परमाद्भुताम्।
दृष्ट्वा तां मनसा राजा पत्नीं कर्तुमियेष स:॥

राजा ने विनम्रतापूर्वक देवी गंगा के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। देवी गंगा ने मुस्कराकर प्रस्ताव स्वीकार किया, किन्तु विवाह से पूर्व उन्होंने एक गंभीर शर्त रखी। उन्होंने कहा—

सा तु राजानमुवाचेदं यदि मां वरयिष्यसि।
न मे किंचिद्विचार्यं ते न च वक्तव्यमस्ति ते॥

अर्थात्—"राजन्! यदि आप मुझसे विवाह करना चाहते हैं, तो आपको यह वचन देना होगा कि मेरे किसी भी कार्य में न तो हस्तक्षेप करेंगे, न मुझसे कोई प्रश्न पूछेंगे और न ही मुझे रोकेंगे। जिस दिन आपने मेरी किसी भी बात पर प्रश्न किया, उसी दिन मैं आपको छोड़कर चली जाऊँगी।"

प्रेमवश राजा शान्तनु ने बिना किसी संकोच के यह शर्त स्वीकार कर ली। शीघ्र ही दोनों का विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न हुआ और हस्तिनापुर में आनन्द का वातावरण छा गया।

समय के साथ देवी गंगा के गर्भ से एक-एक करके आठ पुत्र उत्पन्न हुए। किन्तु प्रत्येक पुत्र के जन्म लेते ही वे उसे अपनी गोद में उठातीं और गंगा नदी की पवित्र धारा में प्रवाहित कर देतीं। यह दृश्य देखकर राजा शान्तनु का हृदय करुणा और वेदना से भर उठता। वे अपने पुत्रों को बचाना चाहते थे, परन्तु अपनी प्रतिज्ञा उन्हें मौन रहने के लिए बाध्य करती थी। इस प्रकार उन्होंने सात पुत्रों को असहाय होकर अपनी आँखों के सामने जल में समर्पित होते देखा, किन्तु अपने वचन की रक्षा के लिए एक शब्द भी न बोले।

जब आठवें पुत्र का जन्म हुआ और देवी गंगा उसे भी लेकर नदी की ओर चल पड़ीं, तब राजा का धैर्य टूट गया। वर्षों से दबा हुआ पितृस्नेह उमड़ पड़ा। वे व्याकुल होकर बोले—"देवि! यह कैसा कठोर कर्म है? कौन-सी माता अपने ही नवजात पुत्रों को जल में प्रवाहित करती है? आज मैं आपको ऐसा करने से नहीं रोक सकता, यह सम्भव नहीं है।"

राजा के ये शब्द सुनकर देवी गंगा ठिठक गईं। उन्होंने शान्त स्वर में कहा— "राजन्! आपने आज अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दी है। अब मेरे लिए आपके साथ रहना सम्भव नहीं है। किन्तु जाने से पहले मैं आपको इस रहस्य का कारण अवश्य बताऊँगी।"

तब देवी गंगा ने बताया कि ये आठों बालक वास्तव में आठ वसु थे। एक बार उन्होंने महर्षि वसिष्ठ की दिव्य कामधेनु

का अपहरण करने का अपराध किया था। इससे क्रुद्ध होकर महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें मनुष्य-योनि में जन्म लेने का शाप दिया। वसुओं की प्रार्थना पर महर्षि ने यह भी कहा कि सात वसु जन्म लेते ही शाप से मुक्त हो जाएँगे, किन्तु जिस वसु ने इस अपराध में प्रमुख भूमिका निभाई थी, उसे पृथ्वी पर दीर्घकाल तक मनुष्य के रूप में जीवन बिताना होगा।

इसी कारण मैंने पहले सात पुत्रों को जन्म लेते ही गंगा की धारा में समर्पित कर उनके शाप का अन्त कर दिया। यह आठवाँ बालक वही वसु है जिसे पृथ्वी पर रहकर महान कर्म करने हैं। इसका नाम देवव्रत होगा और यह संसार में अद्वितीय यश प्राप्त करेगा।

यह कहकर देवी गंगा बालक देवव्रत को अपने साथ स्वर्गीय आश्रमों में ले गईं। वहाँ महर्षि वसिष्ठ, परशुराम तथा अन्य महान आचार्यों के सान्निध्य में उन्होंने उसे वेद, वेदाङ्ग, शास्त्र, धनुर्वेद, राज्यनीति, धर्म, नीति और युद्धकला का सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त कराया। अल्पकाल में ही देवव्रत अद्वितीय विद्वान, अनुपम धनुर्धर तथा महान योद्धा बन गए।

कुछ वर्षों के पश्चात् देवी गंगा देवव्रत को लेकर पुन: राजा शान्तनु के समक्ष उपस्थित हुईं। अपने तेजस्वी, विनयी और सर्वगुणसम्पन्न पुत्र को देखकर राजा का हृदय आनन्द और गर्व से भर उठा। देवी गंगा ने देवव्रत को उनके सुपुर्द किया और अन्तर्धान हो गईं।

आगे चलकर देवव्रत ने अपने पिता की प्रसन्नता और हस्तिनापुर की मर्यादा की रक्षा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य तथा राज्य-सिंहासन के परित्याग की भीषण प्रतिज्ञा की। उनकी यह प्रतिज्ञा इतनी विलक्षण और कठिन थी कि देवताओं ने भी उनकी प्रशंसा की। उसी दिन से देवव्रत 'भीष्म' नाम से प्रसिद्ध हुए। त्याग, सत्यनिष्ठा, कर्तव्यपरायणता और अद्वितीय पराक्रम के कारण वे महाभारत के सबसे महान और सर्वाधिक पूजनीय पात्रों में गिने जाते हैं। उनका जीवन हमें यह शिक्षा देता है कि सत्य, वचनपालन, कर्तव्य और त्याग ही मनुष्य के चरित्र को महान बनाते हैं।

mdpatrika4@gmail.com

संस्कृत कविताएँ

शशिपाल शर्मा 'बालमित्र'
कवि, लेखक एवं संस्कृत विद्वान्

संस्कृतं जयते जयते

संस्कृते वदामो भारतम्
संस्कृते हिमालयपर्वतम्।
गंगा यमुना संस्कृतनद्यौ
संस्कृते हि स्थानं कश्मीरम्॥
श्रीनगरं नगरं संस्कृते
तीर्थस्थानानि संस्कृते।
मम देशः संस्कृतमयः सदा
जन-जन-नामानि संस्कृते॥
देव्यः अवताराः संस्कृते
दुर्गायै लक्ष्म्यै नमो नमः।
सीता च सरस्वती शैलसुता
पूज्या राधा संस्कृतवाणी॥
रामाय नमः कृष्णाय नमः
संस्कृते शिवाय नमस्कारः।
रामायण-कर्ता वाल्मीकिः
वेदव्यासस्य महारचना॥
संस्कृते महाभारतमध्ये
लिखिता गीता जगता पठिता।
श्रेष्ठाः कवयः संस्कृतकवयः
बहुविख्यातः कालीदासः॥
संस्कृतं पठामि श्लोकानां
पाठं कृत्वा मम सम्मोदः।
संस्कृतभाषा मे प्रियभाषा
जयते जयते संस्कृतभाषा॥

बालानाम् अभिलाषः

खेलामि तृणैः मा वारय माम्
निर्बाधं गीतं गायानि।
नूपुरैः विना नृत्यानि यदा
मा भवतु बन्धनं पदे-पदे॥
जागृतलोचन-स्वप्ने निरता
दूरादपि दूरं पश्यानि।
सानन्दं खेलं खेलानि
क्रीडनके भग्ने का चिन्ता।
खेलने शिक्षणं चारुतरं
शिक्षणं तथाऽहं विन्दानि॥
प्रकृतिं पश्यानि इतस्ततः
प्रश्नाः मुखराः बहवो मे स्युः।
प्रश्ने न प्रकोपं वांछामि
स्नेहं वांछामि प्रतिवचनम्।
मम करं गृहीत्वा नयत
अग्रजाः मार्गदर्शकाः मम।
कामनां मदीयां पूरयत
प्रार्थनां मदीयां स्वीकुरुत॥

mdpatrika4@gmail.com

हिन्दी कविताएँ

पिंकी उपाध्याय
लेखिका, बाल साहित्यकार

रंगों भरी दुनिया

कितनी सुंदर अपनी दुनिया,
रंग-रंग के फल और फूल।
खुशहाली में हँसता बचपन,
खुशियाँ हैं जीवन अनुकूल।

लाल, पीला, हरा व नीला,
जीवन है जैसे कोई लीला।
देखो बाग में उड़ता तोता,
बड़ा सजीला, सुंदर, छोटा।

प्यारा इंद्रधनुष मुस्काए,
सात रंग के रंग ले आए।
रंग में रंगा है जीवन अपना,
हमें दिखाता प्यारा सपना।

हम बच्चों ने देखी दुनिया,
रंगों में ही सारी खुशियाँ।
हर रंग में नया उजाला,
जीवन की यह अद्भुत माला।

वन्दन बारं बार है

जीवन के तमसावृत्त क्षण में ज्ञान की ज्योति जलाता जो,
गहन काननों सम जीवन में प्रखर ज्ञान फैलाता जो।
स्वार्थ रहित जो महामनस्वी सद्गुण का आगार है,
धराधाम के व्यापक प्रभु को वन्दन बारंबार है।।

प्रथम नमन है परम गुरू को जिसने मुख को शब्द दिया,
जीवन की भाषा सिखलाई सघन तिमिर को दूर किया।
ममता की प्रतिमूर्ति शक्ति जो सद्गुण का आधार है,
धरा धाम के ज्ञापक प्रभु को वन्दन बारंबार है।।

नमन दूसरा तात चरण को जिसने जीवन तृप्त किया,
पालन पोषण संरक्षण कर जीवन दर्शन युक्त किया।
पितृचरण जो अद्भुत विस्मय घर का जो श्रृंगार है,
धरा धाम के साधक प्रभु को वन्दन बारंबार है।।

करते हैं हम नमन तीसरा ज्ञान के उस संसार को,
ज्ञान सुधा का सागर है जो शिष्यों का परिवार जो।
ईश समान प्रभा है जिसकी जीवन का आधार है,
लोक परा वैभव के गुरु को वन्दन बारंबार है।।

mdpatrika4@gmail.com

मानव-जीवन के दिव्य स्तम्भ उपनिषद्

डॉ. अजय कुमार भारद्वाज
व्याकरणाचार्य

भारतीय ज्ञान-परम्परा में उपनिषदों का स्थान अत्यन्त विशिष्ट एवं गौरवपूर्ण है। वे केवल दार्शनिक ग्रन्थ ही नहीं, अपितु मानव जीवन को सत्य, ज्ञान, विवेक और आत्मबोध की ओर उन्मुख करने वाले दिव्य प्रकाश-स्तम्भ हैं। हमारे ऋषि-मुनियों ने मानव-कल्याण की भावना से जो आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन प्रस्तुत किया, उसका सर्वोच्च स्वरूप उपनिषदों में परिलक्षित होता है। उपनिषद् मानव को केवल ज्ञान ही नहीं देते, अपितु जीवन जीने की कला, आत्मानुशासन, कर्तव्यबोध तथा परम सत्य की अनुभूति का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं।

भारतीय शास्त्रों में समस्त प्राणियों की उत्पत्ति चार प्रकार की मानी गई है—अण्डज, जरायुज, स्वेदज तथा उद्भिज। अण्डज वे प्राणी हैं जो अण्डों से उत्पन्न होते हैं, जैसे पक्षी, सर्प, मछली आदि। जरायुज अथवा पिण्डज वे हैं जिनका जन्म माता के गर्भ से होता है। मनुष्य, गाय, घोड़ा, कुत्ता आदि इसी श्रेणी में आते हैं। स्वेदज वे जीव हैं जिनकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीय मान्यता के अनुसार स्वेद अथवा सड़े-गले पदार्थों से मानी गई है, जैसे जूँ, मच्छर आदि। यह वर्गीकरण तत्कालीन दार्शनिक एवं प्राकृतिक दृष्टिकोण का परिचायक है। उद्भिज वे हैं जो पृथ्वी से अंकुरित होते हैं, जैसे वृक्ष, लताएँ, घास तथा अन्य वनस्पतियाँ।

इन समस्त प्राणियों में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ इसलिए माना गया है कि वह विवेक, चिन्तन और आत्मबोध से सम्पन्न है। मनुष्य की वास्तविक श्रेष्ठता उसके शरीर में नहीं, अपितु उसकी बुद्धि, विवेक, संस्कार और आत्मचेतना में निहित है। यदि मनुष्य अपने विवेक का सदुपयोग नहीं करता, तो उसके भीतर नकारात्मक विचार स्वत: उत्पन्न होने लगते हैं। जिस प्रकार उपेक्षित भूमि में बिना बोए खर-पतवार उग आते हैं, उसी प्रकार स्वाध्याय, सत्संग और सकारात्मक चिन्तन के अभाव में मनुष्य का अन्त:करण भी अवांछित विचारों से भर जाता है। परिणामस्वरूप वह न स्वयं का कल्याण कर पाता है और न समाज तथा प्रकृति के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन कर पाता है। इसी कारण भारतीय ऋषियों ने मानव-जीवन को दिशा देने के लिए वेद, उपनिषद्, स्मृतियाँ तथा अन्य शास्त्रों की रचना की। इनका उद्देश्य केवल धार्मिक अनुष्ठान कराना नहीं, अपितु मनुष्य के व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है।

'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति उप + नि + सद् से हुई है। इसका सामान्य अर्थ है गुरु के समीप श्रद्धापूर्वक बैठकर उस ज्ञान को प्राप्त करना जो अज्ञान का नाश करे और आत्मतत्त्व का बोध कराए। शंकराचार्य के अनुसार उपनिषद् वह ब्रह्मविद्या है, जो अविद्या का विनाश करके साधक को ब्रह्म की प्राप्ति कराती है।

उपनिषद् भारतीय वैदिक साहित्य का दार्शनिक शिखर हैं। इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है, क्योंकि ये वेदों के अन्तिम भाग हैं तथा उनमें निहित ज्ञान का सार प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्म, जीव, जगत्, ईश्वर, माया, आत्मा, मोक्ष तथा जीवन के परम लक्ष्य का अत्यन्त गम्भीर किन्तु सुबोध विवेचन उपनिषदों में प्राप्त होता है।

परम्परानुसार उपनिषदों की संख्या 108 मानी गई है, जिसका उल्लेख मुक्तिकोपनिषद् में प्राप्त होता है। इनमें प्रमुख उपनिषद् ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। आदि शंकराचार्य ने इन प्रमुख उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उन्हें भारतीय दर्शन की मुख्यधारा में प्रतिष्ठित किया। उपनिषद् केवल बौद्धिक अध्ययन की सामग्री नहीं हैं; वे साधना और अनुभूति के ग्रन्थ हैं। यह विद्या तभी फलवती होती है जब साधक में पात्रता, विनय, श्रद्धा और जिज्ञासा का समन्वय हो। श्रद्धा के बिना कोई भी ज्ञान जीवन में फलित नहीं हो सकता। इसलिए उपनिषद् बार-बार साधक को श्रद्धा, संयम और आत्मानुशासन का उपदेश देते हैं।

भगवद्गीता में भी श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

(श्रीमद्भगवद्गीता 17.28)

अर्थात् बिना श्रद्धा के किया गया यज्ञ, दान, तप अथवा कोई भी शुभ कर्म 'असत्' कहलाता है; वह न इस लोक में और न परलोक में कल्याणकारी होता है। उपनिषद् मानव को यह शिक्षा देते हैं कि उसका भविष्य उसके अपने कर्मों द्वारा निर्मित होता है। सत्कर्म, सत्य, आत्मसंयम और सदाचार ही जीवन को महान बनाते हैं। इसी सत्य को गोस्वामी तुलसीदास ने भी अत्यन्त सरल शब्दों में व्यक्त किया है— कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥

अर्थात् यह संसार कर्मप्रधान है; प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के अनुरूप ही फल प्राप्त करता है। वेद, वेदाङ्ग और उपनिषद् सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए हैं। इनके अध्ययन एवं मनन से न केवल व्यक्ति का आत्मिक विकास होता है, अपितु उसके सम्पर्क में आने वाला परिवार, समाज और सम्पूर्ण वातावरण भी संस्कारित होता है। उपनिषद् मानव को बाह्य उपलब्धियों से अधिक आन्तरिक उत्कृष्टता का मार्ग दिखाते हैं। वे सिखाते हैं कि आत्मज्ञान, श्रद्धा, सदाचार और सत्कर्म ही मानव जीवन को सार्थक, शान्तिमय और कल्याणकारी बनाते हैं। इस प्रकार उपनिषद् केवल प्राचीन ग्रन्थ नहीं, अपितु आज भी मानवता के लिए प्रेरणा, प्रकाश और जीवन-दर्शन के अक्षय स्रोत हैं। जब तक मनुष्य सत्य, ज्ञान और आत्मबोध की खोज करता रहेगा, तब तक उपनिषदों का संदेश उसकी जीवन-यात्रा का विश्वसनीय पथप्रदर्शक बना रहेगा।

mdpatrika4@gmail.com

पर्यावरण और सांस्कृतिक सातत्य का प्रतिमान लोकपर्व हरेला

पिंकी उपाध्याय
लेखिका, बाल साहित्यकार

भारत की सांस्कृतिक संरचना का वास्तविक आधार उसके लोकसमाज में निहित है। यदि शास्त्र भारतीय सभ्यता की वैचारिक धारा हैं, तो लोक उसकी जीवंत चेतना है। भारतीय संस्कृति का प्रवाह केवल वेदों, उपनिषदों और पुराणों में ही नहीं, अपितु लोकजीवन की परम्पराओं, उत्सवों, गीतों, कृषिकर्म और सामुदायिक व्यवहार में भी निरंतर स्पंदित होता है। यही कारण है कि भारत के लोकपर्व केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं हैं, अपितु वे समाज की सामूहिक स्मृति, सांस्कृतिक उत्तराधिकार, प्रकृति के प्रति कृतज्ञता तथा मानवीय सहअस्तित्व के जीवंत माध्यम हैं।

'लोकपर्व' का अर्थ केवल लोक द्वारा मनाया जाने वाला उत्सव नहीं है, अपितु ऐसा सांस्कृतिक आयोजन है जिसमें किसी क्षेत्र का इतिहास, प्रकृति, लोकविश्वास, कृषि, ऋतुचक्र, पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक सहभागिता और आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि एक साथ अभिव्यक्त होती है। भारतीय लोकपर्व व्यक्ति को समुदाय से, समुदाय को प्रकृति से और प्रकृति को संस्कृति से जोड़ते हैं। इसीलिए वे केवल उल्लास के अवसर नहीं, अपितु समाज के सांस्कृतिक पुनर्संस्कार के पर्व भी हैं।

> डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय लोकजीवन को संस्कृति का प्राणतत्त्व माना है।

ऋग्वेद में प्रकृति के प्रति श्रद्धा, अथर्ववेद में पृथ्वी को माता तथा समस्त प्राणियों के कल्याण की भावना, उपनिषदों में समग्र सृष्टि के प्रति आत्मीयता तथा पुराणों में वृक्ष, नदी और पर्वतों की पवित्रताये सभी भारतीय लोकपर्वों के दार्शनिक आधार हैं। यही कारण है कि भारतीय परम्परा में प्रत्येक ऋतु, प्रत्येक कृषि-चक्र और प्रत्येक प्राकृतिक परिवर्तन किसी न किसी उत्सव के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

उत्तराखंड काहरेलाइसी भारतीय लोकदृष्टि का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।हरेला को केवल कृषि-उत्सव कहना उसके व्यापक सांस्कृतिक स्वरूप को सीमित कर देना होगा। यह प्रकृति के साथ मनुष्य के सहजीवी सम्बन्ध, सामुदायिक उत्तरदायित्व, पर्यावरणीय संतुलन, सांस्कृतिक निरंतरता, पारिवारिक आत्मीयता तथा जीवन के पुनर्सृजन का उत्सव है। इसकी जड़ें भारतीय जीवन-दर्शन में इतनी गहराई तक पैठी हैं कि इसमें धर्म, लोकविश्वास, कृषि, पर्यावरण और सामाजिक संरचना परस्पर अभिन्न रूप में दिखाई देते हैं।

लोकपर्व किसी समाज की सांस्कृतिक आत्मकथा होते हैं। वे केवल अतीत की स्मृतियों को सुरक्षित नहीं रखते, अपितु प्रत्येक पीढ़ी को जीवन-मूल्यों से जोड़ते हैं। भारतीय समाज में दीपावली, होली, बिहू, ओणम, बैसाखी, पोंगल, नुआखाई, कर्मा और हरेला जैसे लोकपर्व स्थानीय होते हुए भी भारतीय सांस्कृतिक एकात्मता के वाहक हैं।

रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भारतीय संस्कृति को निरंतर प्रवाहित होने वाली धारा कहा है, जिसमें विविध परम्पराएँ मिलकर समन्वित जीवन-दृष्टि का निर्माण करती हैं। हरेला इसी समन्वय का सजीव उदाहरण है, जहाँ प्रकृति और संस्कृति परस्पर विरोधी नहीं, अपितु एक-दूसरे की पूरक हैं।

डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय लोकजीवन को संस्कृति का प्राणतत्त्व माना है। उनके चिंतन का सार यही है कि लोक में जीवन की सहजता, प्रकृति के प्रति आत्मीयता तथा सामूहिक चेतना का स्वाभाविक विकास होता है। हरेला इस दृष्टि को मूर्त रूप प्रदान करता है। यहाँ बीज बोना केवल कृषि का प्रारंभ

नहीं, अपितु आशा, धैर्य और नवजीवन के अंकुरण का सांस्कृतिक विधान है।

भारतीय ज्ञान-परम्परा में पृथ्वी को माता और मनुष्य को उसका पुत्र कहा गया है 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।' (अथर्ववेद १२.१.१२) यह उद्घोष मनुष्य को प्रकृति का स्वामी नहीं, अपितु उसका उत्तरदायी सहभागी मानता है। यही दृष्टि हरेला की संपूर्ण परम्परा में प्रत्यक्ष होती है।

कुछ मुट्ठी बीजों का अंकुरित होना केवल कृषि की प्रतीक्षा नहीं, अपितु यह घोषणा है कि जीवन का प्रत्येक विस्तार धरती की उर्वरता, जल की पवित्रता और प्रकृति की कृपा पर आधारित है। अंकुरों को मस्तक पर धारण करना वस्तुतः प्रकृति के प्रति कृतज्ञ प्रणाम है। यह प्रतीकात्मक क्रिया मनुष्य को स्मरण कराती है कि उसका अस्तित्व मिट्टी, जल, वायु और वनस्पति से अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

पर्यावरण चिंतक वंदना शिवा भारतीय कृषि परंपराओं को जैव-विविधता और पारिस्थितिक संतुलन की आधारशिला मानती हैं। उनका विचार है कि स्थानीय लोकज्ञान प्रकृति-संरक्षण का सबसे प्रभावी माध्यम है। हरेला इसका उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ वृक्षारोपण, कृषि और पर्यावरणीय चेतना किसी प्रशासनिक अभियान से नहीं, अपितु सांस्कृतिक संस्कार से जन्म लेती है।

लोकपर्व केवल वर्तमान का उत्सव नहीं, अपितु अतीत और भविष्य के बीच सांस्कृतिक सेतु हैं। इनके माध्यम से परम्पराएँ केवल संरक्षित नहीं होतीं, अपितु नई पीढ़ी तक सहज रूप से पहुँचती हैं। परिवार में बच्चों को हरेला का आशीर्वाद देना, लोकगीत गाना, बीज बोना और वृक्ष लगाना, ये सभी सांस्कृतिक शिक्षण की जीवंत प्रक्रियाएँ हैं।

समाजशास्त्री एमिल दुर्खीम के अनुसार सामूहिक उत्सव समाज की सामूहिक चेतना को पुनर्स्थापित करते हैं। भारतीय लोकपर्वों के संदर्भ में यह विचार अत्यंत सार्थक है। हरेला परिवार, ग्राम और समुदाय को एक सूत्र में बाँधकर सामाजिक विश्वास, उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक स्मृति का पुनर्नवीकरण करता है।

आज संपूर्ण विश्व जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, जैव-विविधता के संकट और प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित दोहन से जूझ रहा है। आधुनिक पर्यावरणीय विमर्श जिससतत विकास (Sustainable Development) की अवधारणा पर बल देता है, उसका सांस्कृतिक स्वरूप भारतीय लोकपर्वों में सहस्राब्दियों से विद्यमान है।

हरेला का संदेश स्पष्ट है प्रकृति-संरक्षण केवल सरकारी योजनाओं का विषय नहीं, अपितु सामाजिक संस्कृति का अभिन्न अंग होना चाहिए। जब वृक्षारोपण उत्सव बन जाता है, तब पर्यावरण-संरक्षण आंदोलन नहीं, अपितु जीवन-पद्धति बन जाता है। यही इस लोकपर्व की सबसे बड़ी शक्ति है।

लोकपरम्पराएँ अतीत का अवशेष नहीं, भविष्य का मार्गदर्शन हैं। वे सिखाती हैं कि आधुनिकता का अर्थ अपनी जड़ों से विमुख होना नहीं, अपितु परम्परा और नवाचार के मध्य संतुलन स्थापित करना है।

आज आवश्यकता है कि हरेला को केवल उत्तराखंड के क्षेत्रीय पर्व के रूप में न देखकर भारतीय पर्यावरणीय संस्कृति के आदर्श प्रतिमान के रूप में समझा जाए। विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, ग्राम समुदायों तथा नीति-निर्माताओं को इस लोकज्ञान को पर्यावरण-शिक्षा, जैव-विविधता संरक्षण, जल-संरक्षण तथा सामुदायिक विकास की योजनाओं से जोड़ना चाहिए।

हरेला केवल उत्तराखंड का लोकपर्व नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता की उस जीवन-दृष्टि का उत्सव है जिसमें प्रकृति, संस्कृति और मानवता परस्पर अभिन्न हैं। यह हमें स्मरण कराता है कि सभ्यता की स्थिरता केवल तकनीकी प्रगति से नहीं, अपितु प्रकृति के साथ संतुलित और उत्तरदायी सम्बन्धों से सुनिश्चित होती है। यदि भारतीय लोकपर्व जीवित रहेंगे तो हमारी सांस्कृतिक स्मृति भी जीवित रहेगी; यदि सांस्कृतिक स्मृति सुरक्षित रहेगी तो पर्यावरण के प्रति उत्तरदायित्व भी बना रहेगा; और यदि प्रकृति सुरक्षित रहेगी तभी मानव सभ्यता का भविष्य भी सुरक्षित होगा।इस दृष्टि सेहरेला भारतीय लोकसंस्कृति का हरित महापर्व हैजहाँ बीज में भविष्य का विश्वास है, वृक्ष में संस्कृति का विस्तार है, लोक में जीवन का उत्सव है और हरियाली में समस्त सृष्टि के कल्याण का मंगल-संकल्प निहित है।

mdpatrika4@gmail.com

जनान्दोलन अभिव्यक्ति और युवाओं के संस्कार?

अमिता तिवारी
भाषाध्येता एवं लेखिका

किसी भी लोकतांत्रिक समाज में आंदोलन और विरोध-प्रदर्शन असहमति व्यक्त करने का वैध माध्यम हैं। किंतु उतना ही महत्त्वपूर्ण यह भी है कि आंदोलन की भाषा, शैली और आचरण लोकतांत्रिक मर्यादाओं के अनुरूप हों। किसी भी जनांदोलन की नैतिक शक्ति केवल उसके उद्देश्य से नहीं, अपितु उसके व्यवहार, संवाद और सार्वजनिक आचरण से भी निर्धारित होती है।

हाल ही में एक मित्र ने कहा "इस आंदोलन में हमारे अबोध बच्चे फँस रहे हैं।" यह टिप्पणी केवल एक परिवार की चिंता नहीं, अपितु पूरे समाज के लिए आत्मचिंतन का विषय है। प्रश्न यह नहीं है कि युवा किसी आंदोलन में भाग लें या नहीं; प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार की भाषा, किस प्रकार की अभिव्यक्ति और किस प्रकार की सामाजिक संस्कृति से परिचित हो रहे हैं।

भारतीय लोकतंत्र ने अनेक ऐतिहासिक जनांदोलनों को देखा है। स्वतंत्रता संग्राम से लेकर जेपी आंदोलन और भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलनों तक, अनेक अवसरों पर तीखा वैचारिक संघर्ष हुआ, लेकिन व्यापक रूप से सार्वजनिक

भाषा में संयम और मर्यादा बनाए रखने का प्रयास भी दिखाई देता था। मतभेद प्रखर थे, किंतु संवाद का स्तर अपेक्षाकृत गरिमापूर्ण था। यह कहना नहीं है कि अतीत पूर्णतः दोषरहित था, अपितु यह कि सार्वजनिक जीवन में भाषा की गरिमा को एक मूल्य माना जाता था।

आज चिंता का विषय यह है कि सामाजिक और राजनीतिक विमर्श के कुछ हिस्सों में अशिष्ट भाषा, व्यक्तिगत कटाक्ष, अपमानजनक टिप्पणियाँ और सोशल मीडिया आधारित आक्रामक अभिव्यक्ति सामान्य होती जा रही है। यदि किसी आंदोलन में ऐसी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं, तो उसका प्रभाव केवल राजनीतिक वातावरण तक सीमित नहीं रहता; वह नई पीढ़ी के व्यवहार और भाषा को भी प्रभावित करता है।

यहाँ सबसे बड़ी जिम्मेदारी परिवार और शिक्षा दोनों की है। माता-पिता बच्चों को केवल शिक्षा नहीं देते, वे उनके व्यक्तित्व की आधारशिला भी रखते हैं। विद्यालय ज्ञान देते हैं, किंतु घर संस्कार देता है। यदि कोई किशोर या युवा सार्वजनिक जीवन में अपमानजनक भाषा को सामान्य मानने लगे, तो यह केवल उसकी व्यक्तिगत समस्या नहीं, अपितु परिवार, समाज और सार्वजनिक संस्कृति—तीनों के लिए चिंतन का विषय है।

इसका अर्थ यह नहीं कि किसी आंदोलन में शामिल होने वाला प्रत्येक युवा अशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है, या किसी विशेष विचारधारा अथवा संगठन से जुड़े परिवार अपने बच्चों को संस्कार नहीं देते। ऐसे व्यापक निष्कर्ष न तो उचित हैं और न ही तथ्यपरक। वास्तव में प्रत्येक विचारधारा, प्रत्येक राजनीतिक दल और प्रत्येक सामाजिक समूह के सामने यह समान चुनौती है कि वह अपने समर्थकों, विशेषकर युवाओं, को असहमति व्यक्त करने की लोकतांत्रिक और मर्यादित शैली सिखाए।

यह भी उतना ही आवश्यक है कि हम राजनीतिक पहचान को नैतिक श्रेष्ठता का प्रमाण न मान लें। कोई व्यक्ति स्वयं को राष्ट्रवादी, समाजवादी, उदारवादी, वामपंथी, दक्षिणपंथी या किसी भी विचारधारा का समर्थक मानता हो—उसकी वास्तविक पहचान उसके आचरण, भाषा और नागरिक उत्तरदायित्व से बनती है। विचारधारा का मूल्य तभी है जब वह व्यवहार में शालीनता, सहिष्णुता और सामाजिक उत्तरदायित्व का रूप ले।

भारत की सांस्कृतिक परंपरा में "वाक्-शुद्धि" अर्थात् वाणी की मर्यादा को विशेष महत्त्व दिया गया है। हमारे शास्त्रों ने "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्" का आदर्श दिया है। सत्य बोलो, किंतु ऐसा सत्य जो अनावश्यक कटुता और अपमान का कारण न बने। लोकतांत्रिक संवाद भी इसी आदर्श से समृद्ध हो सकता है।

आज आवश्यकता किसी एक आंदोलन, किसी एक संगठन या किसी एक राजनीतिक दल की आलोचना भर करने की नहीं, अपितु सार्वजनिक जीवन की भाषा और संस्कृति पर गंभीर राष्ट्रीय आत्ममंथन की है। यदि हम चाहते हैं कि आने वाली पीढ़ी विचारवान, जिम्मेदार और संस्कारित नागरिक बने, तो हमें उन्हें केवल अपने विचार नहीं, अपितु विचार व्यक्त करने की सभ्य और लोकतांत्रिक पद्धति भी सिखानी होगी।

आखिरकार, किसी राष्ट्र का भविष्य केवल उसके युवाओं के हाथों में नहीं होता; वह उन मूल्यों में भी निहित होता है जो हम उन्हें विरासत में देते हैं। यदि हम चाहते हैं कि वे स्वस्थ लोकतंत्र का निर्माण करें, तो हमें उन्हें संवाद, संयम, शिष्टाचार और पारस्परिक सम्मान की संस्कृति का अभ्यास आज से ही कराना होगा। यही सच्चे अर्थों में संस्कार है, और यही किसी भी सभ्य समाज की पहचान भी है।

mdpatrika4@gmail.com

सदस्यता आवेदन प्रपत्र

1. आवेदक का नामः ________________________ 2. पिता/पति का नामः ____________

3. जन्मतिथि (वैकल्पिक): ___/____/_____ 4. व्यवसायः ______________ 5. संस्था/संगठन का नाम (यदि हो): ________________ 6. पूर्ण डाक पताः ______________________

7. जिलाः __________ राज्यः __________8. पिन कोडः ________ 9. मोबाइल नंबरः __________

10. ई-मेलः ____________________

सदस्यता का प्रकार

1. वार्षिक सदस्यता ☐
2. द्विवार्षिक सदस्यता ☐
3. आजीवन सदस्यता ☐
4. संस्थागत सदस्यता ☐

भुगतान का विवरण

भुगतान का माध्यमः नकद ☐ ऑनलाइन ☐ बैंक जमा ☐ अन्य ☐

राशिः ________________

भुगतान/लेन-देन संख्याः ______________________

भुगतान की तिथिः ____ / ____ / ______

पत्रिका प्राप्त करने का माध्यम

- डाक द्वारा ☐
- ई-मेल (यदि उपलब्ध हो) ☐
- दोनों ☐

सुझाव एवं अभिमत

कृपया पत्रिका के संबंध में अपने महत्वपूर्ण सुझाव लिखें—

गुरू पूर्णिमा का संदेश

गुरू वह दीपक है, जो हमारे अज्ञान रूपी अंधकार को
ज्ञान के प्रकाश से दूर करता है।
गुरू केवल पढ़ाए ज्ञान ही नहीं देते,
वे हमें जीवन जीने की कला, मूल्यों की पहचान
और आत्मोन्नति का मार्ग दिखाते हैं।

"गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूर्देवो महेश्वरः।
गुरूः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥"

हमारा संकल्प

शिक्षा, संस्कार, संस्कृति, मूल्य और समाज की उन्नति के लिए समर्पित लेखों के माध्यम से एक जागरूक, संवेदनशील और श्रेष्ठ समाज के निर्माण की ओर अग्रसर रहना।

मार्गदर्शनम्
पत्रिका
ज्ञान • संस्कृति • मूल्य • समाज

**शिक्षा से संस्कार
संस्कार से समाज
समाज से राष्ट्र**

नियमित पत्रिका प्राप्त करने के लिए QR कोड स्कैन करें और चैनल को फॉलो करें।

संपर्क

कार्यालय
रामनगर, वाराणसी
उत्तर प्रदेश – 221008

ईमेल
mdpatrika4@gmail.com

वेबसाइट
www.margdarshanam.org

संपर्क सूत्र
+91 8299740897
+91 8076463253

फॉलो करें

आपके सुझाव हमारे लिए मूल्यवान हैं।